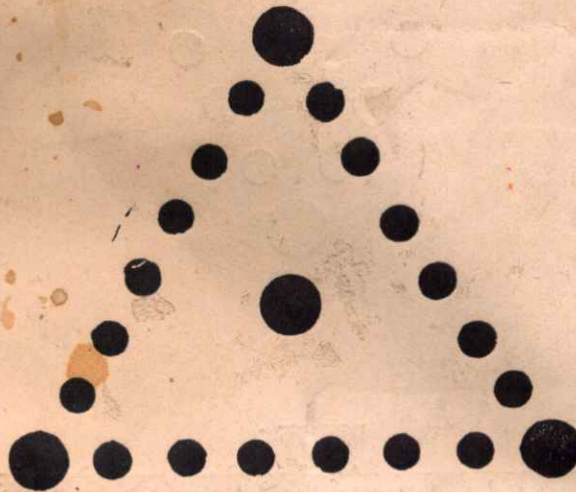
॥ श्रीः ॥

श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य-स्मृति ग्रंथ



प्रकाशक

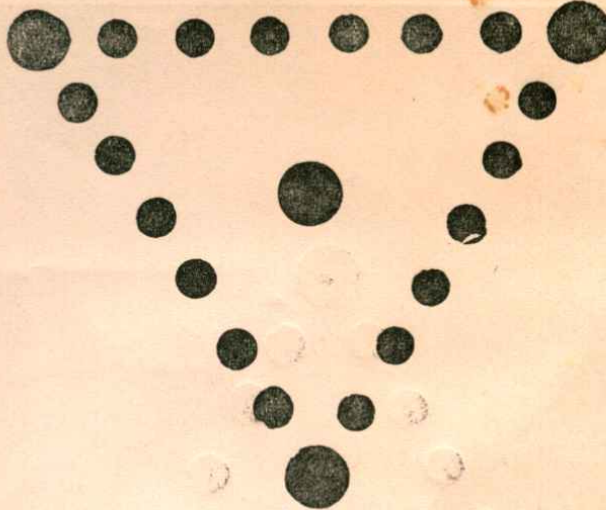
श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य-सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान

जयपुर—३०२००४

कार्तिक शुक्ला अक्षय नवमी

वि० सं० २०४२

॥ श्रीः ॥



प्रकाशक :
श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
बी-३१४-अमृतपथ जनता कालोनी
जयपुर



मुद्रक
मॉडर्न प्रिण्टर्स जयपुर-३

॥ श्रीः ॥

पूज्यपाद ब्र० अनन्त श्री श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज



जन्म :

आषाढ़ शुक्ला १०

वि० सं० १९६०

लीलासंवरण :

कार्त्तिक शुक्ला अक्षय नवमी

वि० सं० २०३९

॥ श्रीः ॥

पूज्यपाद ब्र० अनन्त श्री श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य



सन्देश

स्वामी शिवोम् तीर्थ

नारायण कुटी
देवास म०प्र०
२५.१०.८५

हरि ॐ

श्री शर्माजी

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य स्वामी महाराज की पुण्यतिथि के अवसर पर एक स्मृतिग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। दोनों पुस्तकें परम पूज्य श्री बाबामहाराज तथा आचार्य श्री अमृतवाग्भव की प्राप्त हुई— उनको देखने से आचार्य श्री के जीवन का कुछ दिगदर्शन प्राप्त हुआ। आचार्य श्री का जीवन महान आदर्श का प्रतीक तथा भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत के प्रचार का ज्वलन्त उदाहरण है। आज जबकि भारतीय जन मानस में भारतीय संस्कृति के प्रति उपेक्षा की भावनाओं के संकट उपस्थित हैं, ऐसे समय में आचार्य श्रीजैसी महान विभूतियों के जीवन तथा उनके दर्शन की अधिक से अधिक प्रचार की आवश्यकता है। आप वास्तव में ही अत्यन्त प्रशंसनीय एवं शुभ भागवत कार्य में संलग्न हैं। मेरी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं।

शुभचिन्तक
शिवोम्तीर्थ

॥ श्री ॥

❀ वन्दना ❀

—श्रीअमृतवाग्भवाचार्य

श्री विद्यासमुपासनं प्रथयितुं सत्सम्प्रदायक्रमात्
शिष्टानुग्रहणाय दुष्ट निकरोच्छेदाय यो ऽवातरत्
साक्षाद् दर्शयितुं समस्त जगतामात्मान मात्म प्रथं
दुर्वासा भगवान् सदा विजयतां श्रीमान् स्वरूपो गुरुः ॥

—श्री देशिक दर्शनम्

[आदर्शभूत गुरु सम्प्रदाय के अनुसार श्री विद्या की उपासना का प्रचार करने के लिये, सज्जनों पर अनुग्रह करने के लिये, दुर्जनों के दलों का उच्छेद करने के लिये तथा स्वयं अपने ही चित् प्रकाश से सदा चमकते हुए और समस्त ब्रह्माण्डों के वास्तविक आत्म स्वरूप स्वात्म परमेश्वर का साक्षात्कार करवाने के लिये जो इस भू लोक में अवतार रूप में उतरे उन हमारे स्वात्मस्वरूप गुरुदेव भगवान् श्री दुर्वासा मुनीश्वर की जय जय कार हो ।]

विध्यान् सिद्धान् मानवांश्च
गुरून गुरु परम्परा ।
सर्वेषां पादुकाश्चाहं
बन्दे वाक्कायमानसैः ॥

—श्री सिद्धमहारहस्यम्

[मैं मन, वाणी और शरीर के द्वारा दिव्य-शरीर-धारी, सिद्ध-शरीरधारी, मानव शरीर धारी गुरुओं को, गुरुओं की परम्पराओं को और उन सब की पादुकाओं को प्रणाम करता हूँ ।]

———

प्रकाशकीय

"श्रीमद् अमृतवाग्भव-स्मृति ग्रन्थ" पूज्यपाद श्री बाबा महाराज की कृपा से संस्थान के माध्यम से प्रकाशित होकर उनके भक्तों-परिचितों-प्रेमियों एवं श्रद्धालु जनों के सम्मुख प्रस्तुत है।

पूज्यपाद श्री बाबा महाराज को ब्रह्म भावस्थ हुए तीन वर्ष हुए हैं। उनका चरित्र उनकी पावन-स्मृति और उनके सदुपदेश ही हमारे पथ प्रदर्शक हैं।

संस्थान द्वारा प्रेषित श्री बाबा के स्मृतिग्रन्थ के निमित्त प्रश्नावली के आधार पर अथवा स्वतंत्र लेख, भिन्न-भिन्न स्थान स्थित बाबा के निज-जनों से भेजने का अनुरोध किया गया और तदुपरांत प्राप्त सामग्री को क्रमबद्ध कर प्रकाशित किया जा रहा है।

स्मृतिग्रंथ और संस्थान की सीमा के अनुसार लेखों के आकार-प्रकार को संशोधित संपादित किया गया है तथा कुछ लेख स्थान-संकोच वश प्रकाशित होने से रह गये हैं। आशा है विवशता के लिये क्षमा करेंगे।

अलौकिक सत्पुरुष की दिव्य लोक लीला का अवलोकन-अध्ययन आनन्द और स्फूर्ति दायक तो होता ही है, पाठकों को सत्पथ की ओर अग्रसर होने में सहायक व प्रेरक भी होता है।

ग्रंथ सम्पादन में श्री शान्तिस्वरूप अग्निहोत्री, डा० शिव सागर त्रिपाठी, श्री सुरेन्द्र सिंह राव तथा श्री अरुणेश कुमार शर्मा के सौजन्य सहयोग के लिये, जिन विद्वानों एवं प्रेमियों ने अपने लेख भेजे हैं तथा जिन-जिन महानुभावों ने अपने-अपने प्रकार से जो सहयोग दिया है, उन सभी के प्रति संस्थान की ओर से हार्दिक आभार एवं मंगलकामनाएँ।

कामना है कि करुणावरुणालय पूज्यपाद श्री बाबा महाराज अपनी अहैतुकी कृपा से समस्त निज-जनों को अपनी अनुकम्पा और स्नेह का सतत सामीप्य प्रदान करते रहेंगे।

दुर्गादत्त शर्मा	**गिरिराज शरण गुप्त**	**सियाराम गर्ग**
अध्यक्ष	अर्थ-मन्त्री	मंत्री

अनुक्रम



॥ श्री गुरुः शरणम् ॥

॥ निवेदनम् ॥

आत्मीय !

समझ में नहीं आता, कैसे और कहां से प्रारंभ करूं ? भावनाओं के हृदयाकाश में प्रस्फुटित भाव सुमनों के अपरिमित नक्षत्र हाथ नहीं आ रहे। अव्यक्त और अकथनीय को व्यक्त कर पाना गूंगे द्वारा गुड़ का स्वाद बता पाना जैसा असंभव है। अनुभूति को कोई जिह्वा या वाणी नहीं होती, उसकी कोई निश्चित भाषा या बोली नहीं होती। हां, यथाशक्य किसी रूप से भाषा कल्पित की जा सकती है। शिव सूत्र के—"ज्ञानाधिष्ठानं मातृका"—१/४ सूत्र के अनुसार समस्त ज्ञानों का अधिष्ठान तो मातृका—अक्षर समूह ही है जो समस्त सुख दुखादि का कारण है।

किन्तु पू० बाबा तो अन्तर्मन की भाषा के विशेषज्ञ रहे हैं। प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा–स्मृतयः–इत्यादि मन की समस्त वृत्तियों से परे रहे हैं। व्यक्ति का मात्र चेहरा देख कर जन्म–लग्न, संवत्, आयु, स्वभाव और भूत–भविष्य–वर्तमान जान लेने तथा अन्तर्शक्ति को जाग्रत करने में पूर्ण समर्थ महामानव, वांङमनसगोचर इन्द्रियातीत होने की प्रेरणा के साथ-साथ वे सदा ही शब्दों की अपेक्षा अनुभूति, वाणी की अपेक्षा आत्म बोध पर बल देते रहे।

सिद्धात्मा महापुरुष जो प्रकट होकर भी अप्रकट, प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से मार्ग-दर्शन करते हुए अपनी पूर्ण सिद्धावस्था को छुपाते हुए समस्त श्रद्धालुओं का कल्याण कर उन पर सहज-सरल अनासक्त भाव से अपनी अहैतुकी करुणा की वर्षा करते हुए उनके उद्धार का मार्ग प्रशस्त करने वाले पू० बाबा जैसा अलौकिक ज्ञान और शक्ति सम्पन्न महान् ऋषि युगों बाद अवतरित होता है। ईश्वर एक, रूप अनेक। बाबा–जैसे महापुरुष ईश्वरीय अवतार स्वरूप ही तो हैं।

शिव-सूत्र के–"सिद्ध स्वतंत्र भावः" के अनुरूप सर्वतंत्र स्वतंत्र भावस्थ बाबा के महिमामय व्यक्तित्व का कोई स्थूल रूप नहीं, वह तो अन्तः शक्ति सम्पन्न स्थिति है जो सदा सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है।

एक क्षण के लिये अंतर्मुखी हो मनन करें तो अनुभव करेंगे कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष रहे, अदृश्य रूप में भी उसी भांति आज भी अपने प्रेमियों–श्रद्धालुओं-भक्तों के अन्तर्मन में अटूट-श्रद्धा, अखण्ड-विश्वास के दिव्य ज्योतिर्मय शुद्ध–बुद्ध, शाश्वत–शान्त, नाद-बिन्दुकलातीत चैतन्यस्वरूप में हृत्कमल कर्णिका के मध्य मणिमुक्ताओं से जटित सिंहासन पर विराजमान हैं।

बाबा जैसा करूणाबरुणालय अपरिग्रही सिद्धात्मा महापुरुष इस पृथ्वीतल पर निरुद्देश्य प्रकट नहीं होता। उसमें जन–कल्याण का भाव

सन्निहित होता है। हाँ वह अपना अत्यन्त सादगी भरा साधारण मानव स्वरूप ही प्रत्यक्ष करता है और अप्रकट रहस्यपूर्ण ढंग से दिव्य निर्देश देकर महाप्रयाण कर जाता है। उस दिव्य निर्देश को जो ग्रहण कर लेता है, ज्ञानी बन मुक्त हो जाता है। सामान्यजन का ऐसे महापुरुष को भली भांति समझ पाना और उसे शब्दों में व्यक्त कर पाना अत्यन्त दुरूह है।

जब भी बाबा के सान्निध्य में बैठने का अवसर मिल पाता, उनके मुखारविंद से कभी ओजस्वी कृष्ण और कभी किसी तेजस्वी ऋषि की सुन्दर मुख-मुद्रा प्रतिभासित होकर मंत्र-मुग्ध कर देती थी। न जिज्ञासा बन पाती थी और न कोई आकांक्षा।

पू० बाबा एक ऐसी दिव्य विभूति थे जिनके पुनीत दर्शन मात्र से लोगों में चिंतन–मनन और भगवत्साधना की ललक स्वयं जाग उठती थी। बाबा का व्यक्तित्व विलक्षण और अलौकिक था, स्नेह और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति ! लगता था, अपने बाबा की ममतामयी गोद में शिशुवत् निरातंक, निश्चिन्त, सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित और आश्वस्त हुए बैठे हैं। हमें न कुछ करना है, न समझना है। करना तो बस उनको ही रहा है।

यद्यपि दर्शन का सौभाग्य सर्वप्रथम सन् १९४२ में भरतपुर में श्री पं० गोविन्द जी मिश्र के निवास स्थान पर ही हुआ था और तब मैं नवीं कक्षा का छात्र था। मेरे सन् १९५१ में जयपुर आने के उपरांत विशेषकर १९५६ के पश्चात् पू० बाबा का जयपुर आवागमन प्रारंभ हुआ। तदन्तर हमारे यहां भी निवास कर हमें कृतार्थ करते रहे और दिनोंदिन पू० बाबा के सान्निध्य में अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होने लगा, साधन–निर्देश और अनुग्रह का अनुभव भी।

सन् १९६६ में मेरे निजी आवासगृह की आधारशिला पू० बाबा के कर कमलों द्वारा रखी गई थी और इसीलिये इस मकान के सामने बने पथ का नामकरण बाबा के नाम पर "अमृत पथ" रखा गया। यही नहीं, इसके सामने पू० बाबा की सत्प्रेरणा स्वरूप मन्दिर निर्माण कार्य आरंभ हुआ तब उसका नाम भी बाबा के नाम पर ही "श्री अमृतेश्वर मृत्युञ्जय महादेव मन्दिर" और उसकी प्रबंध समिति का नाम "श्री अमृतेश्वर सेवा संस्थान रखा गया। इसके अतिरिक्त भी जयपुर नगर के बाहर बसी "बरकत नगर" और "कृष्ण नगर" बस्तियों में भी कुछ प्रेमी जनों द्वारा शिव मन्दिरों का नाम "श्री अमृतेश्वर महादेव मन्दिर" रखा गया है।

सन् १९७९ में जयपुर में श्री सियाराम जी गर्ग के निवास पर प्रवास के समय पू० बाबा के अस्वस्थ हो जाने पर निर्देशानुसार गंगा के निकट ही देहरादून में बाबा के निवास हेतु उनके भक्त श्री सरदारी लाल जी से फोन पर आवास व्यवस्था की बात की गई। वे देहरादून में बाबा की प्रतीक्षा करते रहे किन्तु इधर जब बाबा कुछ स्वस्थ हुए तब दिल्ली में अपने अनन्य भक्त एवं भेषज विशेषज्ञ डॉ० श्रीनाथ तिक्कू जी से औषध–उपचार लेने की दृष्टि से वे दिल्ली प्रस्थान कर गये। जयपुर छोड़ने से पूर्व श्री पं० गोविन्द जी के समक्ष मुझे आदेश दिया—यदि दिल्ली में स्वास्थ्य में सुधार नहीं हुआ तो—सूचना दूंगा—"मुझे देहरादून पहुंचा देना और किताबों का बक्सा दिल्ली से जयपुर ले आना"। किन्तु कुछ समय पश्चात् वे स्वस्थ हो गये और फिर प्रायः दिल्ली ही रहते रहे।

ब्रह्मभावस्थ होने के लगभग छः माह पूर्व ही तो भरतपुर निवासी श्री पं० गोविन्द जी मिश्र जो बाबा के अभिन्न हृदय रहे, ने शरीर त्याग किया था और तदुपरांत बाबा का सन्देश पाकर दिल्ली में उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था किन्तु

ऐसी कोई संभावना-कल्पना-संकेत नहीं था कि पू० बाबा इतना शीघ्र ही महाप्रयाण करेंगे। सदा की भांति केवल एक ही आदेश-गोविन्द ी नहीं रहे—"अतः अब तुम्हें देखना है—मेरा शरीर गंगा में समर्पित किया जाय"। तभी चर्चा के समय उन्होंने बताया—"मैंने अपनी आत्मकथा संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध कर लिखी हुई प्रकाशन के लिये बलजिन्नाथ जी को समझा दी है।

बाबा की अस्वस्थता का समाचार मिलने पर एक दिन पूर्व ही दिल्ली पहुंचा था। दो दिन पूर्व से ही वे अन्तश्चेतना में लीन थे। किंतु जब मैं पहुंचा तब पुनः चैतन्य एवं स्वस्थ स्थिति में आ गये, मुख मंडल पर तेज था और ऐसा आभास नही होता था कि दूसरे दिन ही हमें अनाथ छोड़ ब्रह्मभाव में लीन हो जायेगे। किंतु हमारे लिये जो सूर्य उदित हुआ वह महान शोक सन्देश लेकर हमारे जीवन की आध्यात्मिक निधि को लूटने आ गया।

यही लगभग दस बजे दिन का समय प्राणाकर्षण प्रारंभ कर समाधि स्थिति की ओर अग्रसर। जब-तब पंचामृत, गंगाजल मुख में डालते रहे। अनेकानेक भक्त, प्रेमी, परिचितजन विभिन्न स्थानों से आ पहुंचे। कोई कवचपाठ और कोई मन्दाक्रान्ता स्तोत्र आदि का पाठ कर रहा है। प्रत्येक की दृष्टि में आशंका और भय। कमरे में हलचल और फिर लगभग एक बजे महा समाधि कीं ओर।

पृथ्वी पर कुशासन आदि बिछाकर लिटा दिया है। अखंड दीप प्रज्वलित है। पाठ चल रहा है। महामृत्युंजय मंत्र चल रहा है। श्वांस की गति मंद और शनै-शनैः मंद से मंदतर होती चली आ रही है। तभी पुनः अंतिम बार गंगाजल। और बस कुछ क्षण पश्चात् ही सायंकाल लगभग चार बजे पूर्ण महा-समाधि में मग्न। समूची पृथ्वी उदास, जड़ चेतन सभी शोक मग्न। उपस्थित भक्त समुदाय बस निरीह अवाक् देखता रह गया है। एक अविस्मरणीय करुणा और आस्था मिश्रित अत्यत मर्मस्पर्शी दृश्य है।

पद्मासन की मुद्रा में, मुख पर दिव्य तेज की आभा बिखरी पड़ रही है, पारमेश्वरी शक्ति और शाश्वत आनंद का अपरिमित भण्डार। सभी भक्त जनों ने यमुनोदक से अभिषेक कर गेरुये वस्त्र धारण कराकर चंदन रोली और पुष्पमालाओं आदि से पूजा की और तब अर्द्धरात्रि में एक मैटाडोर में सिंहासन पर आसीन कर हरिद्वार की ओर प्रस्थान। प्रातः ६ बजे उत्तराखंड में कनखल हरिद्वार में गंगा के किनारे पुनः अभिषेक पूजा और तदुपरांत सभी भक्तों ने मिलकर नीलधारा में जल-समाधि दी।

अब तक जिस तेजोमय मोहक स्वरूप का दर्शन करते रहे, उसे सहज प्रत्यक्ष रूप में न पाकर आकुलता मानवोचित है। लगता है जैसे नीचे न पृथ्वी है और न ऊपर आकाश। प्रेम, करुणा, शक्ति और ज्ञान की साक्षात प्रतिमूर्ति की अनेकानेक कथाऐं हैं। प्रायः सभी भक्तों, एवं परिचितों के पास अनेक कथानक और संस्मरण हैं। किस प्रकार मार्ग-दर्शन और प्रत्येक की समस्याओं का समाधान करते रहे, कितनों ही को आर्थिक सहयोग सहायता देते रहे, न जाने कितनों की झोलियाँ भरते रहे, कृपा करते रहे। महिमा अपार अवर्णनीय और अविस्मरणीय है।

पू० बाबा की गरिमा-महिमा को उपयुक्त शब्द दे सकने और उनके अहैतुकी कृपापूर्ण अनुग्रह के लिये कृतज्ञता स्वरूप भाव, शब्द-सुमनों में संजोकर सेवार्पित कर सकने की सामर्थ्य भी तो नहीं है।

अतः जिन पर जिस प्रकार भी कृपा की है जो भी दृष्टि दी है वैसा ही चित्र उनके मनमस्तिष्क में उभर पाया है और पू० बाबा के सम्पर्क सान्निध्य में आये श्रद्धालु, भावुक, परिचिता प्रेमीजनों द्वारा पूज्यपाद आचार्यश्री जी के अप्रकट विराट स्वरूप और विलक्षण दिव्य महिमामय व्यक्तित्व की स्मृति में संजोयी भाव सुमनांजलि परम पुनीत पाद पद्मों में समर्पित है।

ए. ७२-अमृतपथ
जनता कालोनी-जयपुर

अभिन्न
दुर्गादत्त शर्मा
अध्यक्ष
श्री मदमृतवाग्भवाचार्य
सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
जयपुर

निवेदनम्

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

अशेषा सन्मान्या मुहुरनु विशेषा अपितथा
स्फुरन्तो लक्ष्यन्ते य इह विषया वा विषयिणः
सदा सापेक्षास्ते परमगतिमन्तो वरकल ।
भजन्ते यां पुण्यां प्रतिपदतुला सा विजयताम् ।।१।।

पुमांसो वा योषा अदिति तनया वा दितिसुताः
समिद्धा सिद्धा वा प्रकृति पतिता मूढ मतयः
समीहन्ते कांचित्करुण मसृणाऽपाङ्गशरणं ।
स्वसंवित्यै दिव्यां गुरु दृगमलां सा विजयताम् ।।२।।

श्री स्वाध्याय सं० २०१२
वर्ष १५ सं० २

श्रीशिव-प्रपत्ति-स्तोत्रम्

(मन्त्र-वर्णक्रमेण आद्याक्षरी-रीत्या)

—गोविन्दवासुदेवः ब्रह्मचारी

प्रसादमूर्त्तेः परमं प्रसादं, भोगैषणा पङ्क-विषक्ति-शोषम् ।
शंधामसन्धान करानुभूतिम्, भोगीन्द्र-कण्ठाभरणस्य मन्वे ।।१।।
दीर्घायुषा दीर्घतपश्चयेन, नन्दीश्वराद्यै रपि लिप्स्यमानम् ।
वि-योग सयोग विदूरयोगं, हितंप्रियं सत्यमुपैमि तत्त्वम् ।।२।।
तनोषि भूमन् निखिलं प्रपञ्चं, शमाध्वनाऽऽप्यः स्वत एव पूर्णः ।
रक्षार्थमन्यो नहि कश्चिदस्या-र्णं तं भजे प्राणिषु तं विभु त्वाम् ।।३।।
त्वत्तोऽधिगम्येष्टतमं फलं त-च्चमत्कृताशेष जगत् त्वनन्तम् ।
रहस्यमानन्दमदुःखमेकम्, एत्वं गिरां निर्णयमर्थमेति ।।४।।
योऽयं भवाध्वा भृशकन्टकोन्त-र्भक्ति विना ते परमां दुरन्तः ।
वात्यामताकर्म-फलानुबन्धो, रजस्तमो भावविषाहिकीर्णः ।।५।।
न्यायः कुतोऽत्रैव कदर्थितानां, दस्युव्रजात् काममुखादुपेयः ।
स्मार्त्तेन धर्मेण कृतोऽपि युष्म-द्विशालदुर्मेय कृपां विहाय ।।६।।
षडङ्घ्रिरम्भोरुहि मोदतेऽर्थी-महोपकार व्रतिनस्तथाते ।
विभोः पदे नित्यरसोच्चये नः, षड्यन्त्रतो नन्दतु दूरमन्तः ।।७।।
यायादियं धीर्भवदेकवृत्तिः, शीलातिशीर्तिं निरहं ममा मे ।
विशेषतस्तन्मयतां प्रपन्ना, षड्वैरि-निर्णोदन तेजसाऽऽढ्या ।।८।।
वृक्षो लतालिङ्गित ईशनामा, तात्पर्यमर्थं फलतादपूर्वम् ।
समासतस्त्वैक्यपदं फलासद्, मुद्वर्षणं त्वात्मरसोपपन्नम् ।।९।।
धृताकृतिर्यो भुवनावनाय, त्यजत्यमुं निर्गुणतामजातु ।
श्रमं भवभ्रान्तिभवं प्रणुद्या, द्वानिर्यतो भीमरुजां स देवः ।।१०।।
विरागिचेतो भव वैभवान् मे, ध्रुवं भवद्भावभृतौ प्रभूयात् ।
रम्ये यथात्वाश्रवणेऽनुषक्तो, मत्तः पिकः शूलवनाद् विरक्तः ।।११।।
पिनाकिनं देवमुपेत्यकस्माद्, बद्धोऽसिभीत्याऽधजयानरत्वम्
धाराशिताहेतिवरस्य यस्य, दत्तेऽवकाशं न विपर्ययस्य ।।१२।।

रमे महीशे परमाशुतोषे, कलावपि क्लिष्टतमेस्वमुक्त्यै ।
रंस्यामहे तत्पदरेणु राजौ, ददातु सोऽत्रात्मरसानुभूतिम् ।।१३।।

यामोऽथवा सर्वमयस्यतस्य, दृषद्यपि प्रीति-सुधानुभूतिम् ।
दृष्ट्याऽपि तद्भावनया समस्तं, पश्यन्त एवाप्नुम ईश्वरं तम् ।।१४।।

श्यन् सर्वदोषान् क्रमशो रुणद्धु, निशान्धकारानिव विश्वचक्षुः ।
जराजनिव्याधि-भृतिप्रवाहम्, तरीर्भवाब्धेर्भगवान् शिवो नः ।।१५।।

नरोऽपि नारायण-संश्रयेण, यतो ग्रहाद्याति तदैकरूप्यम् ।
माभूच्च्युतः सग्रह एवमन्ना-त्मीयत्वमात्मोज्झतु सोऽखिलस्य ।।१६।।

कुक्षौ स्वमातुर्मनुजोऽप्युषित्वा, ऋजैव चेद् यापयति स्वजन्म ।
शिवं परं तत्त्वमनन्तमर्घ्यं, वदान्यमीयात् क इह स्वमुक्त्यै ।।१७।।

ॐ तत् सद्गुरुवे नः, शिवाय महसे नमोऽस्तु सुधनाय ।
परमानन्दोदधये निधयेऽर्थानामनादिनिधनाय ।।१८।।

श्रीमान् भवान् स भगवान् परवान् श्रितानाम्
आद्याक्षरीक्रमनुतो मनुतोऽर्पितेष्टः ।
देयाददोषगुणमर्घ्यपदं पदं त-
ल्लभ्यं भवो परमतोऽरमतोद्यशक्तिः ।।१९।।

श्री आद्याक्षरीक्रमानुसारं शिवप्रपत्ति-स्तोत्रं सम्पूर्णम्—

श्री साङ्गवेदमहाविद्यालयः
नरवरम् (उ० प्र०)

।। श्री ।।

सिद्धमहामन्त्रस्वरूपिणी

।। श्रीपरशिवप्रार्थना ।।

आचार्य—श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीता

प्रभो ! शम्भो ! दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयो-
र्भवारण्यादस्माद्विषमविषयाशीविषवृतात् ।।
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव ! ।।१।।

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य-
शुभाभिनन्दनम् ।

—गोविन्दवासुदेवः ब्रह्मचारी

श्रीमदाचार्यप्रवराणाममृतवाग्भवसमाख्यानाम्
विद्वत्तल्लजानां पुण्यं शुभाभिनन्दनदलम् ।
अशेष-निगमागमार्णवतल-स्पृशामग्रणी-
महीर्थर्माणेरत्नचित् परमचिन्मयानन्दभूः
निरस्तकलिकालिमप्रसर सद्यशः श्वेतिमा
जयत्यमृतवाग्भवोऽत्यमृतवाग्भवोदङ् महा ॥१॥
अमृतवाग्भवहृत्कमलोद्भवा-भूममृतवाङ्क्करन्दभरीमिमाम्
मनुमयीं करुणार्थ-सुवासितां-विशदयामदयामयतत्पराः ॥२॥
अत्यार्जवगुणागारमेकनिष्ठं महेश्वरे,
मृतसञ्जीवनोद्गारं प्रणौम्यमृतवाग्भवम् ॥३॥
तन्वन्तं कलिक-लृप्तक्लेशकलापप्रशान्ति-निर्देशम्
वाग्बीजं सुवपन्तं सहृदयहृदये नुमः सुभद्रतरोः ॥४॥
भववारिधि-नौरेषा यदुदितवाक्सन्ततिः सुगूढार्था
वाचामतीतमर्थं प्रकाशयन्ती श्रुतीडितं जीयात् ॥५॥
चारुप्रमाण-सरणि प्रथितार्थबोधि—
र्यः सन्तनोति हितमज्ञतयान्धितानाम् ।
विद्वद्वरैरभिनुतोऽभिमतोऽग्र्यवाचाम्
जल्पेऽपि वो दिशतु सोऽमृतवाग्भवः शम् ॥६॥
यत्र प्रसारयति शंयुमयीं दृशं स्वाम्,
तान्ति जनेषु शमयन् प्रमुदाप्लुतो यः
तत्रैव सन्दिशति सत्पथमार्यहृद्यं,
रां रामतत्वमवतात् स मुनीश्वरो यः ॥७॥
इत्येवं गुणगौरिमाढ्य गरिमागारो गिरन् गीष्पतिः
यो गौरी गिरिशग्रहं गलदघं गीतैस्तु गुण्यैर्जगौ
श्रीमान्सोऽमृतवाग्भवोऽतुलयशः स्फीत्याऽमरत्वं वहन्—
नाचार्योऽखिलदुर्मत्यान्ध्यशमनीं देयाद् दृशं पावनीम् ॥८॥

श्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालयः नरवरम् (उ० प्र०)

श्री अमृतस्तवद्वादशी

—रामदेवः साहू
एम. ए., साहित्याचार्यः (एम्.-फिल्.)

विद्वद्वंशविभूतिरक्षययशा वैदुष्यसंपद्गृहम्,
श्रीकृष्णस्य भुवि प्रियामृतपदं संशोभयामास यः ।
आषाढे जनिमाप्तवान् च धवले पक्षे दशम्यां तिथौ,
ख्याते बर्कलवंशजद्विजकुले श्रीवैद्यनाथः सुतः ॥१॥

राधाकुक्षिपवित्रकृत् सुकृतिनां पूज्यं विधायात्मनः,
बालोऽयं पितरं प्रभोः शिवकरं सन्देशमाधत्तवान् ।
लोके त्वत्र वियद्रसग्रहसुधाहृत्सम्मिते वैक्रमे,
मातुः पितृभुवोऽङ्कगं व्युदतरत् सत्तीर्थराडङ्गणम् ॥२॥

पारम्पर्यत एव शैशवमयं व्येति स्म तत्राखिलम्,
शैवानां च पदानुगः शिवशिवापादानुतीरप्रथत् ।
शान्तस्वान्त इयादियन्मतिमतामी शत्वमीशप्रियो,
यत्कण्ठे स्फुटितं स्वतः प्रियतरं पञ्चस्तवीभूषणम् ॥३॥

स प्रातःस्मरणं पुनः रसनया ह्यास्वादयन् संततं,
यो वाचः स्खलने मुहुर्मुहुरपि प्राचुर्यमालम्बते ।
चेतः शांतिमुपैतु सर्वजगतां मोदस्य चापल्यतः,
कल्याणाय कुलालचक्रगतिमत्संसारचक्रञ्चरन् ॥४॥

स्वप्नेऽप्यात्मविदां कृपामलभत श्रावं सकर्णामृतम्,
तद्दिष्टं त्विह भाग्यशालिषु पुनः प्राथम्यमापत् किल ।
दैवीं चायमुपास्य दास्यमगमज् ज्ञानं दधौ निर्मलम्,
स्तोकस्मिन् समयेऽभवद् बुधवरो जातिस्मरेष्वग्रणीः ॥५॥

व्यत्यैद् वा सुखदुःखयोः समतया देवं स्मरञ्जीवनम्,
दीक्षामेत्य विधानतश्च गतवान्नात्मज्ञसञ्जीवनम् ।
सौन्दर्याण्युपवीणयन् भगवतीं प्राग्जन्मसंस्कारतः,
संसारे प्रससाद सः प्रकृतिशः सिद्धत्वमासादितः ॥6॥

अन्यत् सिद्धमहारहस्यमलिखत् स्नेहाकरो जीवने,
लोकानां हितकारकं कवितया प्रज्ञाचरं सत्वरम् ।
छात्रत्वे व्यतनोदयं नु सुकृती वार्धक्यमापद्य च,
बाल्येऽप्यात्मविदामिवात्मयतिनश्चित्रं ततानाचिरम् ॥७॥

श्रीविद्या समुपासिता दिविषदां दिग्दर्शनञ्चाप्तवान्,
दिव्यं योगमवाप्य तन्त्रविधिना मुद्रामहो शाम्भवीम् ।
साध्यत्वेन गतः किल त्रिपुरया वाञ्छन् ययौ दिष्टताम्,
यो दुर्वासस एव तद्भगवतः शिष्यत्वमापत्कलौ ॥८॥

कल्लोले जलकेलिमेष सरितो बालः सुराणाञ्चरन्,
चेतो ज्ञातिमगादुत प्रथमतः दिष्ट्या हठान्निर्मलम् ।
दैवीयं विधिनो विधानमुररीकृत्याकरोज्जीवनम्,
संकल्प यदिदं तदा भगवतो भक्त्यै दृढश्चार्पये ॥९॥

भारत्या भुवनाङ्गणं निरुपमं द्वेधाऽमृतं निःसृतम्,
भ्रान्त्वा सोऽमृतवाग्भवश्च सकलं चन्द्रं विजित्यावनौ ।
दीप्त्या खं महतोऽनुगं प्रतिदिशन् भाति स्म लोकोत्तरम्,
नाम्नान्वर्थतया विभूषितवपुः सिद्धः परिव्राजकः ॥१०॥

हैमेष्वार्षपथेन यद्विचरणैरासिद्धक्षेत्रं महद्,
भूखण्डं निखिलं खलु प्रचरितं नाद्यापि किं पावनम् ।
तीर्थं हिन्दुकुलाङ्गसंस्कृतिमतामाचार्यचर्यावताम्,
लोकानामथवामृताकरमसौ 'तस्मै नमः' प्रार्थये ॥११॥

सन्मार्गश्रवणोत्कराणि कतिचिद्रत्नापराण्यासृजद्,
आचार्योऽयमुपायरूपमपरं लोके चकार व्रती ।
तस्मै शास्त्ररहस्यलास्यरसनाभूत्यै कृतो नूतनः,
स्वीकार्योऽमृतवाग्भवाय भविता वाक्पुष्पपूर्णाञ्जलिः ॥१२॥

राजस्थान–विश्वविद्यालयः
जयपुरम्

॥ श्री गुरुः शरणम् ॥

पू० बाबा के प्रति पू० गुलवणी जी महाराज

(श्री वासुदेव निवास, ४२/१७, एरण्डवन, कर्वे पथ 'पूना—स्थित श्रीमंत दत्त योगिराज सद्गुरु श्री सन्त श्री वामनराव जी गुलवणी महाराज (१८८६-१९७४) महाराष्ट्र में सिद्धयोग सम्प्रदाय के विख्यात सिद्ध पुरुष एवं वरिष्ठ आचार्य रहे हैं। पूज्यपाद गुलवणीजी महाराज ने समय-समय पर अपने पत्रों में पू० बाबा महाराज के सन्दर्भ में जो भाव सुमन अर्पित किये वे पाठकों में रस संचार निमित्त अविकल रूप से प्रस्तुत हैं। सं.)

११.५.१९६२

पत्र मिला। तथा आचार्य श्री अमृतवाग्भवजी के भेजे हुए ग्रंथ मिले। संतोष हुआ। हार्दिक धन्यवाद। यदि श्रीमान् आचार्य जी का परिचय आप यथा समय लिखेंगे तो संतोष होगा। उन्होंने पुस्तकें मुझे देने को किस कारण से लिखा, यह नहीं समझा। यदि श्रीमान् आचार्य जी वहाँ पर आयेंगे तो उनके चरणों में मेरा साष्टांग प्रणिपात प्रविष्ट करना।

२२.६.१९६२

पंडित श्री अमृतवाग्भव जी के विषय में आपने जो लिखा वह पढ़ कर संतोष हुआ। उनके ग्रंथों पर समालोचना लिखने की मेरी योग्यता नहीं है।

१०.७.१९६२

श्री अमृतवाग्भव जी के विषय में मुझे काशी से सविस्तार वर्तमान मिला है। मैं उनका नाम बहुत वर्षों से सुन रहा हूँ।

१.९.१९६२

श्री पंडितजी विद्यार्थी दशा में अत्यंत बुद्धिमान विद्यार्थी थे। पंडित गोपीनाथ कविराज एम० ए०, महामहोपाध्यायजी का उनके ऊपर बड़ा प्रेम था। विवाह के बाद गुप्त रीति से घर से निकल गये। सोलन संस्थान के राजा साहब सपरिवार उनके शिष्य हैं। पंडित जी की पत्नी अपने पिताजी के घर में रहती हैं। बड़ी तपस्विनी हैं। अपना सब समय भगवद् भजन में ही व्यतीत करती हैं। इतना ही मुझे मालूम है।

२५.९.१९६२

मैं पंडितजी के श्वसुर और पत्नी को जानता हूँ। जब-जब मैं काशी जाता हूँ, तब-तब उनके यहाँ ही ठहरता हूँ। पंडितजी दो तीन वर्ष पहिले काशी गये थे। उस समय पत्नी को मिलकर और उनको उपदेश कर गये ऐसा सुना है। □

आचार्य अमृतवाग्भवः कुछ प्राचीन बातें

— प्रो. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते, शास्त्र चूड़ामणि

जगद्गुरु शिव की नगरी तपस्वियों, विद्वानों, कवियों तथा प्रतिभाशालियों की प्रसव भूमि, वाराणसी सम्पूर्ण भारत वर्ष में अपना एक अक्षुण्य वैशिट्य धारण करती है।

कालचक्र के विपरिणाम से आज स्थिति बहुत कुछ बदल गई है तो भी उसका यशः सौरभ आज भी शेष है। अखबारों की सुर्खियों के प्रलोभन से दूर रहने वाले साधक दो चार आज भी यहां है, जिनकी पहिचान कठिन है।

मेरे पूज्य पिताजी स्वर्गीय महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्तेजी काशी के ही प्राचीन महाराष्ट्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, उनका जीवन भी नाना प्रकार के विद्वानों, तपस्वियों, साधकों की सम्पर्क सुरभि से ओत-प्रोत था, उन्हीं के पावन संस्कार के कुछ अंश मुझे भी प्राप्त हुए।

सन्त ज्ञानेश्वर के समय (१३ वीं शताब्दी) से ही विशेष कर महाराष्ट्र ब्राह्मणों का काशी में आना शुरू हुआ था, और इस पुण्यभूमि के आकर्षण से वे यहीं बस गये। १६ वीं शताब्दी में अकबर के शासन में भट्ट वंश के सुप्रसिद्ध विद्वान रामेश्वर भट्ट पैठन (प्रतिष्ठानपुर) से काशी आये, ये अनेक शास्त्रों के विद्वान थे, सुदूर बंगाल, मिथिला तक के छात्र इनके पास आकर पढ़ते थे। उनके सुपुत्र दिगन्त विख्यात भट्टनारायण हुए जिन्होंने अकबर के सचिव टोडर मल की सहायता से विश्वेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया था, इस वंश में निरन्तर विद्वानों की श्रृंखलावली तथा शताधिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। निर्णय सिन्धुकार कमलाकर भट्ट, तथा शिवाजी को राज्याभिषेक करने वाले गागाभट्ट इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। उस समय के शासक राजा महाराजा आदि संस्कृत विद्या, वेद, शास्त्रों, के प्रति अटूट-श्रद्धा रखते थे, तथा विद्वानों की रक्षा एवं सम्मान करना अपना गौरव समझते थे।

भट्ट वंश के साथ ही शेष और धर्माधिकारी वंश में बड़े उच्च कोटि के विद्वान हुए। जगन्नाथ पण्डित राज के गुरु शेष वीरेश्वर काशी की विभूति थे।

वेद मूलक संस्कृति होने के कारण वैदिक संस्कार एवं वेदाध्ययन के बाद ही कोई भी छात्र विशिष्ट शास्त्रों की ओर प्रवृत्त होता था।

इसी परम्परा की धारा में प्रख्यात नागेश भट्ट एवं उसके बाद आंग्ल शासन के प्रारम्भिक काल में श्री बाल शास्त्री या 'बाल सरस्वती' हुए थे। आज भी उत्तर भारत में व्याकरण शास्त्र की परम्परा का आचार्यत्व श्री बाल शास्त्री जी से माना जाता है।

श्री बाल शास्त्री जी के कतिपय शिष्य अपने वैशिष्ट्य से लोकोत्तर प्रतिष्ठा के भाजन हुए

जिनमें महामहोपाध्याय, सी. ग्राई, ई, गङ्गाधर शास्त्रीतैलङ्ग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विशेषतः इस लेख के सन्दर्भ में उनकी चर्चा नितान्त ग्रावश्यक है।

ग्राचार्यग्रमृत वाग्भव, जो इस नाम से गृह-त्याग के बाद जाने गये, मूलतः पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री वरकले के नाम से जाने जाते थे। इनके पिता पं. कृष्ण शास्त्री वरकले, म. म. गङ्गाधर शास्त्री जी के विद्या शिष्य एवं दीक्षा शिष्य भी थे यह बात कम लोगों को मालूम है।

मेरे पू. पिताजी के पास बाल्यकाल से ही वैद्यनाथ शास्त्री का ग्राना-जाना, सहवास, चर्चा, ऊहापोह, ग्रादि चलता था, तथा ग्रवस्था में मैं छोटा होने पर भी सब कुछ सुनता था तथा उनकी कुछ स्मृतियां ग्रब भी शेष हैं।

'वरकले' वंश कृष्ण यजुर्वेद के ग्रापस्तम्ब सूत्र का ग्रनुयायी था, तदनुसार श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने भी उपनयन के बाद कुछ समय तक ग्रपनी शाखा का ग्रध्ययन किया था। इनके उप-नयन के समय स्वयं म. म. गङ्गाधर शास्त्री भी उपस्थित थे तथा शिशुको उनका ग्राशीर्वाद मिला था यह मैंने सुना है।

वैद्यनाथ शास्त्री शैशव से ही तीव्र बुद्धि से सम्पन्न थे, जन्मान्तर संस्कार से इनकी प्रज्ञा ग्रति-शीघ्र ग्रनेक शास्त्रों में ग्रवगाहन करती थी यह मैंने स्वयं देखा था।

उपासना तथा साधन का विषय ग्रतिगोपनीय होने के कारण उसका स्पष्टीकरण न तो उचित है न संभव है तो भी सङ्केतमात्र से कुछ बातें कहना प्रासंगिक होगा।

बहुत कम लोग यह जानते थे कि. म. म. गङ्गाधर शास्त्री जी धुरन्धर विद्वान के साथ ही साधना के ग्राचार्य थे। शास्त्री जी ने ग्रपने जीवन भर इस बात को दो चार शिष्यों के ग्रतिरिक्त ग्रन्य लोगों से गोपनीय ही रखा। उन कतिपय भाग्यवान् शिष्यों में पं. कृष्ण शास्त्री वरकले तथा ग्रन्य दो चार व्यक्ति तथा मेरे पू. पिताजी (खिस्तेजी) भी थे।

बालक वैद्यनाथ का जन्म प्रयाग में ग्रपने मातुल कुल में हुग्रा था, जो 'वेरुलकर' के नाम से जाना जाता है, इनके मातुल ग्रच्छे वैदिक विद्वान थे जिनका मैंने दर्शन किया है। उस वंश के लोग ग्रभी भी प्रयाग में रहते हैं।

इनकी माता की मृत्यु के बाद इनके पिताजी ने द्वितीय विवाह किया, जिनसे श्री रामन्द्र वरकले नामक पुत्र हुए थे, ये भी ग्रापस्तम्ब शाखा के वैदिक विद्वान् थे। खेद है इनकी ग्रल्प ग्रायु में मृत्यु हो गई।

संम्भवतः इनके पूर्व पुरुषों की भी विशिष्ट साधना की लम्बी परम्परा रही जो बालक वैद्यनाथ के ग्रन्तस्तल को प्रेरित करती थी। उनके ही कथनानुसार उनके कोई प्राचीन पुरुष जो सिद्ध दशा को प्राप्त कर गये थे उन्हें स्वप्नादि में दर्शन देते थे।

इस प्रकार बाल्यकाल से ही इनकी जीवनधारा ग्रन्तर्मुखी बन चुकी थी। इनका ग्रध्ययनकाल महत्वपूर्ण रहा, उस समय ग्रनेक विषयों के परि-निष्ठित विद्वान काशी में सुलभ थे, किसी भी शास्त्र की कोई भी समस्या सुलभ सकती थी।

जहां तक मुझे ज्ञात है इनका व्याकरण का ग्रध्ययन महामहोपाध्याय पं. नित्या नन्द पन्त पर्व-तीय जी के पास चलता था, जो श्री गङ्गाधर शास्त्री एवं बाल शास्त्री जी की परम्परा के प्रमुख विद्वान थे। नितान्त त्यागी एवं तपस्वी पर्वतीय

जी व्याकरण के साथ अन्य शास्त्रों के भी विद्वान थे। धर्मशास्त्र और मीमांसा के बिना काशी का पंडित पूर्ण नहीं माना जाता था। श्री पर्वतीय जी बिना ग्रंथ देखे गहनधर्म शास्त्रीय निर्णय तत्काल कर देते थे जो उसके बाद पत्थर की लकीर बन जाता था। श्री वैद्यनाथ शास्त्री की रुचि साहित्य. छन्दःशास्त्र, तथा काव्यरचना की ओर बलवती थी। इस सम्बन्ध में प्रायः प्रतिदिन इनकी बैठक मेरे पिताजी के पास होती थी। नाना प्रकार के काव्य-शैलियों का ऊहापोह चलता था। उस समय पिताजी की समवयस्क मित्रमंडली ने एक 'पिक' काव्य की श्रृङ्खला चलाई, जिसकी प्रथम रचना 'पिकाभ्यर्थनम' एक लघुकाव्य पिताजी ने लिखा, उसके बाद अन्य कवियों ने 'पिकोत्तरम्' 'पिक-प्रत्युक्ति' इत्यादि नामों से छोटे-छोटे काव्य लिखे थे। इन सबों में वैद्यनाथ शास्त्री अल्पवयस्थ थे, उन्होंने भी एक 'पिकप्रत्युत्तरम्' लिखा, जिसका प्रकाशन इस बाल कवि के उत्साहार्थ काशी के एक संपन्न व्यक्ति रायबहादुर कुमार नन्दलाल ने किया था। यह पांचों काव्य मुद्रित हैं

वैद्यनाय शास्त्री संस्कृत कालेज के छात्र थे, वहां पर वे 'साधो लाल रिसर्च स्कॉलरशिप' नामक अनुसंधान वृत्ति के अन्तर्गत कार्य करते थे।

व्याकरणादि शास्त्रों में गति होने के बावजूद इस युवक की लुप्तप्राय हो रही धर्म शास्त्र की परम्परा का अध्येता बनाने का लक्ष्य मेरे पिताजी तथा इनके गुरुओं का था। अतः ये धर्म शास्त्राचार्य की परीक्षा प्रतिवर्ष देने लगे। उस समय आचार्य परीक्षा छह खंडों में होती थी। इन्हे प्रतिवर्ष छात्र वृत्ति एवं 'सुवर्णपदक' मिलता था, जो धर्म शास्त्र के ही लिये किसी उदारचेताने प्रदान किया था। अध्ययन के साथ अनुसंधान, ग्रंथ सम्पादन, काव्य रचना भी इनकी निरन्तर चलती थी।

इसी काल में इन्होंने 'वृत्तरत्नाकर' की नारायण भट्ट कृत 'टीका' का वैदुष्यपूर्ण सम्पादन किया था। तथा नन्दपंडित धर्माधिकारीकृत 'नव-रात्रप्रदीप' ग्रन्थ का भी सम्पादन 'सरस्वती भवन' सीरिज टैक्स्ट्स में किया था, जिसकी भूमिका इनके प्रतिभा तथा व्यापक ज्ञान का निदर्शन है। नन्दपण्डित के दूसरे ग्रन्थ 'शुद्धिचन्द्रिका' का भी सम्पादन इनके द्वारा हुआ था। नन्दपण्डित-धर्मा धिकारी काशी के एक सर्वमान्य पण्डित हो गये थे, १६१०–१६७० संवत् जिनका समय था इनके तथा धर्माधिकारीवंश के सम्बन्ध में ये कुछ प्रबन्ध लिखना चाहते थे ऐसी सूचना भूमिका में दी है। परन्तु वह लिखा नहीं गया।

उस काल में सुप्रसिद्ध मनीषी म. म. स्व. गोपीनाथ कविराज संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल थे सभी विद्वानों के लिये उनका स्थान पवित्र तीर्थ था, मेरे पिताजी तो प्रतिदिन सायंकाल पू. कवि-राज के पास 2–3 घण्टे जरूर बैठते थे।

श्रीवैद्यनाथ शास्त्री जी भी पू. कविराजजी के कृपाभाजन थे, तथा इनकी योग्यता शास्त्रनिष्ठा आदि के कारण उनका निरन्तर स्नेह इनको मिलता रहा जिसका उल्लेख उत्तर जीवन में भी आचार्य जी ने किया है।

विवाह तथा विवाहोत्तर जीवन

श्री वैद्यनाथ शास्त्री जी हमारे परिवार जनों के तुल्यही थे, अतः मेरे पू. पिताजी तथा अन्य मित्रों के द्वारा इनकी विवाह विषयक चर्चा प्रारंभ हुई।

काशी के ही एक सद्ग्रहस्थ, जो हमारे दूर के बन्धु लगते थे, श्री राजाराम आकूत, जो अत्यन्न सज्जन पुरुष थे, की ज्येष्ठ कन्या से इनका विवाह तय हुआ।

श्री आकूत जी उस जमाने के फर्स्टक्लास बी.

एस. सी. थे परन्तु स्वाधीनता ग्रान्दोलन तथा क्रान्तिकारियों से संम्पर्क के कारण सरकारी नौकरी न पा सके। तब महामना मालवीय जी की कृपा से सेंट्रल हिन्दू कालेज में साइन्स के ग्रध्यापक नियुक्त हुए थे।

ये व्यक्तिगत जीवन में ग्रत्यन्त पवित्र, सरल, ब्राह्मण थे, इनके ही संस्कार इनकी ज्येष्ठ कन्या में पूर्णतया विकसित हुए थे। विवाह बड़े ही उत्साह-मय वातावरण में हुग्रा था। योग्य सम्बन्ध के कारण बन्धुबान्धव ग्रत्यन्त प्रसन्न थे। परन्तु सहसा चक्र घूम गया, विवाह के कुछ ही दिनों के बाद श्री वैद्यनाथ शास्त्री सहसा ग्रद्दश्य हो गये। इसके बाद की कुछ बातें तो उन्होंने स्वयं ग्रपने ग्रन्थों में दी हैं। सम्भवतः वे हिमाचल प्रदेश की ग्रोर चले गये थे।

इधर पर्याप्त छान बीन करने पर भी कहीं उनका पता न लगने के कारण बन्धुजन भीषण कष्ट का ग्रनुभव कर रहे थे। परन्तु कुछ दिनों के बाद कुछ पता मिला, इनके इष्टजन पीछे लगे, तब ये ग्रपना स्थान शीघ्र बदल देते रहे। परन्तु उनके जीवित रहने से कुटुम्बियों को कुछ तो ग्राश्वासन मिला।

लम्बी कालावधि बीतती गयी, वर्षों के बाद इन्होंने स्वयं ही पत्नी को पत्र लिखा, तथा तब से कुछ सम्पर्क होने लगा।

उस साध्वी ब्राह्मण कन्या के प्रति मेरी ग्रगाध श्रद्धा है जिसने नवयौवन के देहली पर पैर रखते हुए ग्रपने गार्हस्थ्य का मनोरम स्वप्न देखा था। परन्तु उसका स्वप्न सहसा टूट गया सर्वथा पतिपरा यणा एवं धार्मिक शान्त स्वभाव वाली उस मूर्ति को देखकर ही श्रद्धा उत्पन्न होती थी।

समाज की नाना प्रकार की उपेक्षा ग्रवमानना को विष के समान निगलते हुए उस देवी ने कठोर-तम तप में ग्रपना जीवन लगा दिया था।

कृच्छ्रचान्द्रायण सद्दश ग्रनेक कठोरव्रत उसने किये थे. निरन्तर जप, तप, भगवत्परायणता ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया था।

मेरी तो धारणा है कि उसके कठोरतप के ही कारण ग्राचार्य जी को उसके प्रति मृदु होने की प्रेरणा हुई तथा वे स्वयं काशी ग्राये।

उसके बाद कई प्रसङ्गों में वाराणसी में, मैं उनसे मिला, विचारों का विनिमय होता था। कभी-कभी उनके विचारों से मेरा मत भिन्न भी हो जाता था। वे एक दो बार मेरे घर पर भी ग्राये थे चिरकाल से बाहर रहने के कारण बहुत सी बातें बदल गई थी। वे प्रायः 'हिन्दी' में बोलते थे जब कि उनकी मातृभाषा मराठी थी। मेरे घर से भी उनको स्नेह था।

उनकी प्रतिभा शक्ति ग्रपूर्व थी, शैवागमों का गम्भीर ग्रध्ययन उन्होंने काश्मीर यात्रा में सम्भवतः किया था। मूलतः श्री विद्या सम्प्रदाय के वे ग्रनु-गामी थे।

शैवागम तथा श्रीविद्यागम की ग्रन्तर्धाराऐं वस्तुतः एक ही हैं।

ग्रनेक ग्रलौकिक घटनाग्रों की चर्चा उनके ग्रन्थों में ग्राई है, जो विशिष्ट साधक के लिये सम्भव हैं। इस विषय पर मैं कोई टिप्पणी करना उचित नहीं समझता।

उनकी पत्नी उनके पूर्व ही ग्रपनी संसारयात्रा पूरी कर परमधाम चली गई थी। वे प्रायः इधर काशी ग्राते तो कुछ दिन ठहरते थे तथा ग्रपने पूर्व परिचितों से मिलकर वापस चले जाते थे।

मेरे पिताजी के जीवनकाल में वे वापस नहीं ग्राए जिसका पिताजी को बहुत दुःख था। पिताजी उन्हे छोटे भाई की भांति देखते थे, तथा उनके उत्कर्ष के हर सम्भव उपाय की योजना बनाते थे।

आचार्य अमृतवाग्भव की वाणी परिपक्व थी, आनुवंशिक संस्कार तथा अपनी प्रखर साधना से उन्होंने उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। भारतीय धर्म शास्त्रों, सूत्र ग्रन्थों एवं निबन्धों का प्रगाढ़ अध्ययन होने के कारण शास्त्रीय विषय के प्रतिपादन में उनको पूर्ण अधिकार था।

वे प्रायः शास्त्र की ही बात कहते थे परन्तु उनकी अपनी शैली अलग थी, कुछ नई कल्पनाएं नये नाम भी विषयों पर वे देते थे।

उनके स्तोत्रात्मक काव्यों का सौन्दर्य अप्रतिम है। कोई भी पद व्यर्थ नहीं है, लालित्य और प्रसाद सर्वत्र एक समान दृष्टिगोचर होता है।

कभी कभी तांत्रिक विषयों की व्याख्या में मुझे कुछ बातें पूरी तरह हृदयङ्गम नहीं होती थी, क्योंकि वे स्वतन्त्र चिन्तन करते थे। हमारी मान्यताएं आचार्यों की पारम्परिक व्याख्याओं का अक्षरशः पालन करने वाली हैं।

अनुष्ठान. मन्त्र, देवता आदि के सम्बन्ध में कोई विशेष चर्चा करने की मुझे आवश्यकता न होने से मैं इस विषय पर उनको प्रवृत्त नहीं करता था।

आगम शास्त्र ज्ञान और क्रिया उभयमार्ग से साधना का उपदेश देता है, परन्तु उभय निष्णात बहुत कम साधक उपलब्ध होते हैं।

आचार्य जी को जानकारी दोनों मार्गों की थी, शिष्यों को भी उन्होंने पथप्रदर्शन किया था यह मैंने सुना है।

इसमें सन्देह नहीं कि उनका पूर्व और उत्तर जीवन विद्या और साधना में ही बीता, तथा उनके संपर्क में आने वाले शतशः भक्तों को उन्होंने उचित मार्ग दर्शन देकर कृतकृत्य किया। मेरी उनको प्रणामाञ्जलियें है।

□

श्री निकेतनम्
एन० १६१४३ पत्रकार नगर,
विनायका, वाराणसी उ. प्र.

❀ कौमुदी महोत्सव ❀

श्री अमृत वाग्भव आचार्य

राका शशाङ्क शरदङ्क मृगाङ्कमेत्य स्वाध्यायमातनुत मा कुरुत प्रमादम्।
ज्योत्स्नात्सवो ऽस्य रचयेत् कमपि प्रकाशं श्री राष्ट्र जीवन पथं जन जागरार्थं॥

सोलह कलाओं से परिपूर्ण राका (पूर्णमासी) के चन्द्रमा के समान इस 'शरदङ्क' रूपी चन्द्रमा को प्राप्त कर स्वाध्याय करिये, तथा इसका बिस्तार करिये, इसमें कहीं प्रमाद न करना। इस शरदङ्क रूपी चन्द्रमा का यह कौमुदी महोत्सव उस अनिर्वचनीय अत्यन्त प्रकाशमान राष्ट्र को जगाने के मार्ग का लोगों के उद्‌बुध करने के लिए निर्माण करेगा।

श्री स्वाध्याय वर्ष १ संख्या १
संवत् १९९८

श्री अमृतवाग्भवाचार्य से काशी में साक्षात्कार

—राम चन्द्र द्विवेदी

संभवत : सन् 1965 की बात है मैं तन्त्र सम्मेलन में सम्मिलित होने काशी गया हुआ था। इसी अवसर पर (हो सकता है इसी के आस पास का कोई दूसरा अवसर हो क्यों कि सन् 1965 में, मैं अपनी पुस्तक के प्रकाशनार्थ भी आता जाता रहता था) आदरणीय पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने मुझसे कहा कि एक सिद्ध महापुरुष महाराष्ट्रीय पंडित के यहाँ ठहरे हुए हैं। खिस्ते जी स्वयं तंत्र, आगम एवं साहित्य के निष्णात हैं, उनके पिता स्वर्गीय म.म. नारायण शास्त्री खिस्ते जी भी तान्त्रिक-साधना एवं साहित्य में वैदुष्य के लिए विख्यात थे। स्वभावतः मेरे मन में उत्सुकता थी। कैसा होता है सिद्ध महापुरुष! .... इस संबंध में मुझे आस्था से अधिक उत्सुकता थी। खैर, खिस्ते जी के साथ रात में लगभग 9 बजे, मैं श्री अमृत-वाग्भवाचार्य जी के दर्शन के लिए पहुंचा। वहाँ पहले तो तन्त्र सम्मेलन को लेकर चर्चा हुई। फिर आचार्य जी ने अपनी साधना के कतिपय प्रसंग सुनाये। आज वे सारे प्रसंग (संभवतः तीन प्रसंग उन्होंने सुनाये थे) मेरे मन में गड्ड मड्ड हो गये हैं। कोई भी प्रसंग स्पष्ट और विशद नहीं रह गया है। पर सबसे पहले मैं प्रभावित हुआ था, उनके सरल -सादे व्यक्तित्व से। छरहरा बदन, न ज्यादा लम्बी और न छोटी दाढ़ी, सफेद धोती जो उस समय उत्त-रीय भी था पहने तख्त पर आधा लेटा आधा बैठा व्यक्ति मुझे भारतीय पण्डित-परम्परा का प्रतीक लगा। साधना एवं अनुभव के संस्मरण सुनाते-सुनाते वे स्वरचित स्तुतियों का भी पाठ करते जाते थे। इन स्तुतियों में देवी के स्वरूप का स्मरण उल्लेखनीय है। संस्कृत में संक्षिप्त स्तोत्र लिखने और उसे शुद्ध यति-विराम के साथ सुनाने से ही संस्कृतज्ञ के नाते मेरी आस्था अंकुरित हो गई थी। उनके द्वारा रचित स्तोत्र किसी विद्वान कवि की कल्पना नहीं थी अपितु साक्षात्कार के अनुभव की शब्द–मूर्ति थी। इसलिए वह विशिष्ट उपलब्धि है। मुझे स्मरण आता है कि कश्मीर में शारदा के किशोरी रूप में दर्शन को उन्होंने कितनी सरल और भोली भावात्मकता के साथ सुनाया था उनकी वाणी की निश्छलता से लगता था कि यह सब सत्य होगा; कमसे कम उसे असत्य सिद्ध करने का मेरे पास न कोई अनुभव था और न प्रमाण। दूसरे के साक्षात्कार और प्रयत्न को हम केवल अनुमान के आधार पर या बौद्धिक तर्क-वितर्क से अपने लिए भले झुठला लें पर जिसने सारा जीवन उसी स्वसंवेदन सिद्ध आत्मानुभव में जिया हो उसके यथार्थ को हम मिटा नहीं सकते। अधिक से अधिक हम तो यही कह पायेंगे- "अवि गत गति कछु कहि न जाये"। भेंट समाप्त होते होते, रात गहराने लगी थी। प्रत्येक संस्मरण नया आध्यात्मिक प्रकाश विकीर्ण कर रहा था और इसी स्थिति में यह प्रथम दर्शन का अन्तिम क्षण आ गया। उन्होंने अपनी एक कृति मुझे भी दी। उसे लेकर मैं वापस लौट आया। इसके बाद लम्बे अन्तराल तक उनकी चर्चा लगभग नहीं के बराबर सुनने को मिली। सन् 1966 में, मैं दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़कर

उदयपुर विश्वविद्यालय चला आया । कुछ वर्षों बाद डा० रामगोपाल शर्मा दिनेश, हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्व विद्यालय, से यह सुनने को मिला कि वे अपना शैव महाकाव्य संबंधी शोधग्रंथ में सहायता लेने भरतपुर जाते रहते हैं जहाँ उन्हें श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी से अपेक्षित सहायता मिल जाती है । पुनः कुछ वर्षों बाद डा० भंवरलाल जोशी की पुस्तक 'कश्मीर शैव दर्शन और कामायनी' देखने को मिली । उसमें उनका उल्लेख था । साथ ही जोशी जी से जब भेंट हुई तो उन्होंने भी सादर आचार्यश्री का स्मरण किया । इन सभी अवसरों पर मेरी काशी की स्मृति ताजी हो जाती थी और एक बार फिर उनकी मूर्ति का मानस प्रत्यक्ष हो जाता था। मुझे अब लगा कि राजस्थान में शैवदर्शन का प्रचार-प्रसार के आचार्यश्री श्रद्धेय स्रोत हैं । मेरी भी इच्छा होती थी कि अवसर सहज रूप में मिले तो मैं भी उनसे शास्त्र चर्चा का लाभ उठाऊँ ।

यह सब धीरे-धीरे प्रसुप्त होने लगा था किश्री दुर्गादत्त जी शर्मा जयपुर में मिले । उनके माध्यम से मुझे आचार्य श्री का संपूर्ण साहित्य मिला, उनके पुण्यस्मरण का एक सभा में अवसर प्राप्त हुआ और यह जानकर मेरी प्रसन्नता और बढ़ गई कि वे आचार्य श्री के जीवन, साधना और वैदुष्य का निरन्तर संरक्षण करने में एक संस्था के माध्यम से सदा प्रयत्नशील रहेंगे । यही सर्वोत्तम श्रद्धाञ्जलि है जो उन्हें हमारे बीच सदा अमर रखेगी ।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

❀ दीपावली ❀

दीनाऽवनीय दयनीय दशादिशाना
मालोचनाय कमनीयदृशं दिशन्ती ।
श्री पूजनाय निजराष्ट्र समृद्धि वृद्ध्यै
दीपावलो विशतु शाश्वतिकं प्रकाशम् ।।

—अमृतवाग्भवाचार्य

दरिद्री भिखारी लोगों की दयनीय परिस्थिति की दिशाओं के विचार पूर्वक देखने के लिये, समुचित सुन्दर कामना पूर्ण करने वाली दृष्टि को देने वाली लक्ष्मी का पूजन करने के लिये, अपने राष्ट्र की समृद्धि की वृद्धि के लिये यह दीपावली चिरस्थायी सनातन प्रकाश को देवे ।

श्री स्वाध्याय वर्ष १ संख्या १

दिव्य—स्मृतियाँ

—जिया लाल फोतेदार

पूज्यपाद श्री बाबा महाराज के दर्शन, मार्तण्ड तीर्थ में अपने ही घर में, मेरी बाल्यावस्था में ही मुझे हो गये थे। तत्कालीन काश्मीर में एक विख्यात एवं विद्वान पंडित उमानगरी (ब्रारी आंगन) में रहा करते थे जिनका नाम शंकर पण्डित था। वे ही पूज्य आचार्यश्री जी को हमारे घर लेकर आये थे। बाबा मार्तण्ड में एक धर्मशाला में ठहरे हुए थे, परिचय हुआ। धर्म की चर्चा के पश्चात् हम लोगों के अनुरोध पर बाबा ने हमारे यहां नित्य प्रति भोजन पर आना स्वीकार किया। वे प्रायः दिन रात अपनी साधना में धर्मशाला में ही व्यस्त रहा करते थे। वे केवल भोजन करने ही हमारे घर पर आया करते थे। हाँ, यदा कदा हमारे घर पर भी एक अलग कमरे में वे रह जाते थे। प्रदोष का व्रत रखते थे और उस दिन मौन भी रहते। भोजन केवल एक समय सायंकाल ही करते।

मेरे पिताजी के साथ धार्मिक चर्चा करते रहते। शंकर पंडित ने परिचय कराते समय कहा था कि जब ये बाबा मेरे घर पर मेरा नाम पूछते आये तो मैंने प्रश्न किया क्या आप संस्कृत पढ़े हो? उत्तर था—हाँ! फिर पूछा—कौमुदी पढ़े हो?—हाँ! अमुक अमुक पुस्तक पढे हो—उत्तर था—हाँ! जिस किसी पुस्तक या ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रश्न किया—सभी का उत्तर हाँ था। परन्तु शंकर पण्डित को विश्वास नहीं हुआ। उन जैसे प्रसिद्ध विद्वान के मन में भी अनेक संशय थे। किन्तु जैसे जैसे जिज्ञासा करते गये सभी का संतोषजनक समाधान बाबा ने किया। तब विश्वास हुआ और छह माह तक उन्होंने अपने पास ही ठहराया और बहुत कुछ उनसे सीखा। पूछने पर बाबा ने भी बताया कि उन्होंने उमा नगरी के सब से बड़े विद्वान पंण्डित का नाम सुना था और इसी कारण वे शंकर पण्डित के यहां पहुंचे थे।

इससे पूर्व बाबा महाराज का परिचय बारामूला नगर में श्रीधर नारे नाम वाले एक ब्राह्मण से, वहां एक देवी के मन्दिर में हुआ था, और उसके श्रीनगर स्थित मकान पर भी पर्याप्त समय ठहरे थे। तत्पश्चात् ही वे उमानगरी गये थे।

श्रीनगर में श्रीधरनारे के पुत्र ने रेनजर के प्रशिक्षण हेतु तीन माह पूर्व ही एक इन्टरव्यू दिया था किन्तु उसका नाम नहीं आ पाया था। उसने बाबा महराज को अपनी जन्मपत्रिका दिखाई और फिर बाबा महाराज के कहने पर उसने पुनः आवेदन पत्र मेरे पिताजी को लाकर दिया। उस समय वन विभाग में मेरे पिता जी पं. शिवजी फोतेदार एकाउन्टैन्ट थे। उन्होंने कहा अब तीन माह व्यतीत हो गये अब कुछ नहीं होगा किन्तु उसने मेरे पिता जी से कहा—मैं यह आवेदन पत्र एक महात्मा के कहने पर लाया हूं। पिताजी ने कहा-अच्छा तो रख जाओ।

किन्तु महान आश्चर्य और चमत्कार कि उसके दूसरे दिन ही देहरादून प्रशिक्षण महाविद्यालय से तार आया कि एक स्थान खाली हो गया है अतः

जो एक उम्मीदवार तीन माह पूर्व वाली सूची में से रह गया था उसे तुरन्त भेज दिया जाय। प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। और श्रीधर नारे के पुत्र श्री कण्ठ नारे को, जिसकी जन्मपत्री देख कर बाबा ने पुनः आवेदन पत्र देने को कहा था, तुरन्त ट्रेनिग के लिये भेज दिया गया।

श्री कण्ठ नारे जब रेन्ज औफीसर बन गया तब भी वह बाबा के पास आता था। एक बार उसने हमारे सामने बाबा महाराज को रुपये बतौर भेंट मासिक देने का आग्रह किया। परन्तु बाबा ने उसे शपथ दिलाई कि मुझको रुपये कभी मत भेजना बाद में श्री कण्ठ नारे ने जब बहुत अनुनय विनय की तब बाबा ने दो गरीब प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के पते देकर उनको यथाश्रद्धा धनराशि छात्रवृत्ति के रूप में भेजने का निर्देश दिया। एक विद्यार्थी बनारस में आयुर्वेद की ट्रेनिग करता था और दूसरा दिल्ली में कहीं था। उन दोनों विद्यार्थियों को केवल एक वर्ष तक श्री कण्ठ नारे सहायता भेजते रहे। बाद में बन्द कर दी।

मैं जब १९३३ में लाहौर के आयुर्वेदिक कालेज में पढ़ता था तब बाबा मेरे पास वहां बोर्डिंग हाउस में एक माह तक ठहरे। बाबा ने मुझ से कहा— यदि कोई अध्यापक पूछे कि क्या यह साधु कुछ पढ़ा लिखा है, तो कह देना कुछ पढ़ा लिखा नहीं है। जब ये मेरे पास से लाहौर से काश्मीर चले गये तब मैंने पू. बाबा की दो पुस्तकें अपने प्राध्यापकों को दिखाई। वे बड़े नाराज होकर बोले— तुमने पहिले यह नहीं बताया हमें बड़ा लाभ मिलता।

जब बाबा मार्तण्ड में थे, धर्मशाला में रहते थे। केवल भोजन करने ही हमारे घर पर आते थे। कभी कभी हम लोगों के अनुरोध पर रात में भी ठहर जाते थे। उन दिनों धर्मशाला में दो अध्यापक श्री श्याम लाल हन्डू बी. ए. और श्री प्रेमनाथ मुंशी दोनों ही बाबासे पंचस्तवी पढ़ा करते थे। किन्तु लगातार दस दिन बाद ही वहां उन्होंने पंचस्तवी पर एक विद्वान पंडित से बहस करते हुए उसका अनादर कर दिया। यह सुनने पर बाबा ने उन दोनों को पढ़ाना बन्द कर दिया। दोनो ने ही बहुत अनुनय की, किन्तु बाबा नहीं माने।

जब मैं सातवीं कक्षा का छात्र था, तब मुझे एक सन्यासी महात्मा श्री गंगानन्द स्वामी ने मंत्रोपदेश किया था। मैं उनके पास जाता रहता था। वे भी बाबा महाराज की तरह दूर एक धर्मशाला की कोठरी में रहा करते थे। मैं उनको नित्यप्रति रोटी ले जाता था। बाबा महाराज भी उनके पास जाते रहते थे और खूब बातचीत होती थी।

मैं जब आठवीं कक्षा में पढ़ता था तब एक चखमा बाबा भी बारामूला काश्मीर में थे। वे भी एक उच्च कोटि के सिद्ध योगी, अवधूत श्रेणी के महापुरुष थे। वे भी हमारे घर आते रहते थे, ठहरते थे, भोजन भी करते थे। वे कहीं भी बैठे हुए सब कुछ जान लेते थे। जन्म जन्मान्तरों तक का। पू. बाबा का उनसे भी प्रगाढ़ परिचय था।

अधिक कुछ उनके विषय में अब स्मरण नहीं रह गया है।

मेरे छोटे पुत्र को केवल पुत्रियां थीं कोई पुत्र नहीं था। बहुत से ज्योतिषियों से पूछा—कहा पुत्र का योग ही नहीं है। बाबा दिल्ली में ठहरे हुए थे। मैं और मेरा पुत्र हम दोनों उनके पास गये। अपनी व्यथा कही और निवेदन किया। जन्मपत्री देखने के पश्चात् बाबा ने आशीर्वाद दिया और कहा-रामायण का पाठ करो। और बाबा की कृपा कि उसी वर्ष एक भाग्यशाली पुत्र रत्न का जन्म हुआ। उसके एक वर्ष पश्चात् ही बाबा ब्रह्मलीन हो गये।

मेरे पूज्य पिताजी जिनका नाम पंडित शिव जी फोतेदार था– वन विभाग में एकाउन्टैन्ट थे। बारामूला तथा मुजफराबाद में वे जब थे तब पूज्य बाबा महाराज उनके साथ वहाँ कई माह तक रहे।

बाबा महाराज मेरे साथ भी अनेक बार अनेक स्थानों पर रहे है। उन्होंने परशुराम स्तोत्र आदि अनेक पुस्तकों की रचना हमारे घर पर मार्तण्ड में ही की थी। श्री संक्राति पंचदशी स्तोत्र के अन्तिम पृष्ठ २३ पर स्वयं पू. बाबा महाराज ने लिखा है–

"मार्तण्ड क्षेत्र के निवासी "फोतेदार" कुल में उत्पन्न ब्राह्मण वर, 'शिवजी' नाम वाले एक काश्मीरी गुणी पुरुष सदा ही मुझे पुत्र की भावना से प्रेम करते हैं। और मुझे 'महात्मा' मान कर श्रद्धा से सत्कार भी करते हैं। वह सदाचारी परम धर्मात्मा मन के अत्यन्त सौम्य व्यक्ति हैं तथा काश्मीर राज्य के जंगलात विभाग में प्रधान अकाउन्टैन्ट हैं, इस समय वितस्ता (झेलम) और कृष्ण गंज के संग मस्थल पर बसे हुए 'मुजफ्फरावाद' नामक नगर में नियुक्त हैं। उन्हीं पं. शिवजी के निवास स्थान पर रहते हुए और अपने में ही संतुष्ट रहने वाले मैंने इस श्री संक्राति पंचदशी नामक स्तोत्र की रचना की है।"

मेरी आयु जब लगभग 25 वर्ष की रही होगी तब पू. बाबा महाराज एक तीर्थ कारकारनाग पर रहते थे। यह स्थान हमारे घर से लगभग तीन मील दूरी पर था। मैं उनसे मिलने को जाता रहता था। मैंने जब कृपा करने की प्रार्थना की तब उन्होंने मुझे दूसरे दिन प्रातः काल आने को कहा। मैं अपना नित्य कर्म करने के पश्चात् उनके पास गया। तब बाबा महाराज ने दास पर पूरा अनुग्रह किया। ब्रह्मलीन होने से एक वर्ष पूर्व जब मैं दिल्ली में उनके दर्शन के लिये गया तब उन्होंने पूछा–साधना करते हो? मैंने उत्तर दिया, हां– करता हूं। तब बाबा ने कहा—बस करते जाओ—अब तुम्हें और कुछ आवश्यकता नहीं है।

□□

मार्तण्ड (मटन)
जि. अनन्तनाग काश्मीर

निवेदनम्

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

क्षणाऽपायः कायो बलविरहितः प्राणविभवो
मनोविद्युल्लोलं स्मरशरहतं ज्ञान मपि तत्।
अतिक्लिष्टं चित्तं विकृतमजराऽहं कृति रियं
कथं जीवो यायादहह! परमानन्दमतुलम् ॥१॥
कृतानां पुण्यानां परिणति मपूर्वा नर तनूं
समासाद्य ध्वान्तस्मरमथन सेवा समुचिताम्।
मुधा क्षिण्वन्त्येते कुसुम शर सेवासु पतिताः।
सुधां त्यक्त्वा हालाहल महह! गृह्णन्ति कुजनाः ॥२॥

श्री स्वाध्याय पौष १० गुरुवार
वर्ष. १३ संख्या. २.
सं०२०१०

अमृत-कलश 'बाबा महाराज'

—डॉ॰ शिवसागर त्रिपाठी

श्रीमद् भगवद्गीता में पूर्णावतार श्रीकृष्ण ने उद्घोषणा की है कि विश्व में यत्रकुत्रापि विभूतिमत्ता एवं ऊर्जस्विता दृष्टिगत होती है, वहीं मेरे तेजस्वी अंश की सत्ता है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश-सम्भवम् ।।

ऐसे अंशों की अवतारणा ऋषियों, तपस्वियों और साधकों के रूप में युग-युग से होती रही है और भारत की पुण्य भूमि इससे अपने को गौरवान्वित अनुभव करती रही है । यहां तो—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

दिव्य महापुरुष दैवी शक्ति के अमृत-कलश होते हैं, जो बिन्दुमात्र के सेचन से सामान्य जनों का उद्धार करने में सक्षम होते हैं । यह ठीक है कि इस युग में ऐसे महात्माओं की पहचान कठिन है, क्योंकि इनकी वाक्, वेशभूषा और चमत्कार आदि का आश्रय लेकर समाज के भार रूप कतिपय साधु अपने गुरुत्व (गुरुडम) की प्रस्थापना ही नहीं करते, प्रत्युत अपने को पूर्ण ईश्वर कहलाने में भी नहीं हिचकते । एक सर्वेक्षण के अनुसार अब तक ऐसे पूर्ण ईश्वरों की संख्या ८६ हो चुकी है । तथापि महामणि का तेज और कस्तूरी की गन्ध किसे स्वतः आकर्षित नहीं करती ?

तथाकथित साधुओं के प्रति मेरी श्रद्धा सहसा जागरित नहीं होती, फलतः प्रायः मैं निर्लिप्त रहता हूँ, पर सप्तम दशक के उत्तरार्द्ध में प्रतिवेशी श्री दुर्गादत्त शर्मा के माध्यम से मुझे श्रीमदमृत-वाग्भवाचार्य के कतिपय ग्रन्थों के अवलोकन का अवसर मिला और आशुकवि श्री हरि शास्त्री दाधीच के मुखश्री से उनके वैदुष्य की प्रशंसा सुनी । इससे प्रभावित होकर मैंने आचार्य श्री के अन्य प्रकाशित साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाओं में विकीर्ण सामग्री देखी और पाया कि रचयिता निश्चय ही मेधावी, वाग्मी, सत्यवक्ता, जितेन्द्रिय एवं समस्त शास्त्रों का साक्षात्कार करने वाला रहा होगा । चाणक्य ने एक लेखक—कवि में इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत किया है—

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
तर्कशास्त्र-समालोकी एष साधुः स लेखकः ।।

इस समय मेरे पितृश्री पं. शिव गोविन्द त्रिपाठी मेरे साथ रहते थे, जिन्हें तर्क और विवेक बुद्धि के कारण कोई मन्त्रदाता 'गुरु' नहीं प्राप्त हो पाया था, क्योंकि वे अन्ध श्रद्धा में विश्वास नहीं करते थे। वे भी उस विभूति के प्रति अप्रत्यक्षतः आकर्षित हुए और उनके दर्शनों के लिए लालायित रहने लगे। श्री हरि शास्त्री के माध्यम से पिताजी की भी चर्चा उन तक पहुँच चुकी थी और वे भी मिलना चाहते थे। यह दैवयोग ही था कि आचार्य श्री उस अन्तराल में कई वर्षों तक जयपुर नहीं आ सके और पिताजी अतृप्त लालसा लिये ब्रह्मलीन हो गए।

मुझे स्मरण आता है कि सबसे पहले मैंने उस दिव्य शक्ति के दर्शन सन् 1971 में किये और प्रथम दर्शन में ही उनके गौरवर्ण, मँझले कद, छरहरे शरीर, लघुकूर्च, तेजस्वी मुखमुद्रा, श्वेत वेश-भूषा, गम्भीर प्रकृति, मन्थर गति और सर्वोपरि सुमधुर ओजस्वी वाणी ने अभिभूत किया। तबसे मैं बराबर उनके दर्शन का लाभ उठाता रहा। यह उनकी अहेतुकी कृपा थी कि अपने जयपुर आगमन की सूचना स्वतः भिजवा देते थे। कई बार तो ऐसा हुआ कि मैं किसी कारणवश नहीं पहुंच पाया, तो 'बाबा' जी स्वयं घर पर आ गए। एक बार मैं अस्वस्थ हो गया, कई दिनों तक पर्यङ्कासीन रहा। बाबाजी ने विस्मृत नहीं किया और वे घर पर आ गए। उनकी अमृतमयी वाक् ने मुझे बड़ी शान्ति दी और मैं स्वस्थ हो गया।

बाबा महाराज की दिनचर्या बड़ी नियमित और आहार बड़ा संयत था। ब्राह्म मुहूर्त में जागरण, पूजन, भ्रमण, स्नान, अध्ययन, भोजन, विश्राम, भ्रमण, ध्यान, भक्तों को दर्शन-लाभ एवं दिव्यचर्चा और तदनन्तर शयन। कहीं कोई विलम्ब या नियम में बाधा नहीं। स्वतः यन्त्रवत् सब कुछ सञ्चालित होता था। शास्त्र-चर्चा के लिए दिन में भी समय दिया करते थे। वह कभी भी अपने चरण-स्पर्श नहीं करवाते थे, सम्भवतः वे अपनी सञ्चित पुण्यराशि को वृथा स्पर्श से कलुषित नहीं होने देना चाहते थे।

सन् 1973 में 'श्री गान्धिगौरवम्' काव्य प्रकाशन प्राय था। मैंने बाबाजी को उसके कतिपय अंश सुनाए। अति प्रसन्न हुए और रचना की प्रशंसा की। दूसरे दिन जब मैं मिला, तो उन्होंने मुझे शुभाशंसा परक एक अष्टक दे दिया। इस अयाचिता और अहैतुकी कृपा को मैंने रचना में ज्यों का त्यों सङ्कलित कर दिया। इसी प्रकार 1976 में शीतकालिक प्रवास में मुझे 'प्राणाहुति' एकांकी के प्रकाशन में भी आपका पद्यबद्ध आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

इस दिव्य विभूति से नित्य साक्षात्कार का समय था, सायं 6.30 से 9.30 बजे रात्रि। इस समय प्रतिदिन योग, तन्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, संगीत, कला, काव्यसर्जना तथा उसका सस्वर पाठ तथा इन सबसे सम्बद्ध स्वानुभूत दृश्यावलियों के चित्रोपम एवं हृद्य वर्णन चलते रहते थे। इनमें से कतिपय का चित्रण आपके 'परशुरामस्तोत्रम्' 'संजीवनीदर्शनम्' और 'सिद्धमहारहस्यम्' आदि रचनाओं में किया है। कभी-कभी राजनीति का भी विषय छिड़ जाता था और आप ज्वलन्त

समस्याओं पर खुलकर टिप्पणी करते थे। आप प्रायः व्यक्ति के ज्ञान के अनुरूप चर्चा करते थे, जो बड़ी आनन्ददायक और लाभप्रद होंती थी। विद्वान् के साथ विद्वत्तापूर्ण, ज्ञानी के साथ ज्ञानपूर्ण, भक्त के साथ भक्ति और धर्मपरक, राष्ट्रसेवी के साथ राजनीति की तथा सांसारिक व्यक्तियों के साथ घर-गृहस्थी की सामान्य चर्चा भी करते थे।

आचार्य चरण साहित्यिक और धार्मिक गोष्ठियों में भी अनवरत सम्मिलित होते थे और अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करते थे। एक बार अन्तः अनुशासनीय संस्था 'सन्दर्भ' की बैठक मेरे निवास-स्थान पर हुई, जिसमें मुझे पत्र-वाचन करना था। बाबा महाराज आमन्त्रण पर सहर्ष सम्मिलित हुए और बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किये। बाबाजी को अपनी बात काटना सह्य नहीं था और कभी-कभी उन्हें प्यार भरा गुस्सा भी आ जाता था।

बाबा महाराज की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। इस चुम्बकीय व्यक्तित्व के सम्पर्क में जो भी आया, वह उनका हो गया। वह सम्पर्क में आए भक्तों और उनके बच्चों के नाम तक स्मरण रखते थे। पिछली घटी घटनाओं का विवरण इस प्रकार सुनाते थे, जैसे प्रत्यक्ष देख रहे हों। उनका आत्मीय भाव आकर्षण का विषय था।

इस श्रद्धेय व्यक्तित्व की जितनी भी चर्चा की जाय, थोड़ी है। श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य जी तो साक्षात् 'अमृत कलश' थे। जिस पर उनके बिन्दु पड़ गए, वह कृतकृत्य हो गया। आज वह हमारे बीच में नहीं है, पर उनकी सौम्य मूर्ति, अमूल्य वचन और स्नेहिल आशीर्वाद जीवन के पाथेय बनकर मार्ग-दर्शन करते रहेंगे - साथ ही प्रकाशित-अप्रकाशित प्रचुर साहित्य युग-युग तक साहित्य साधकों और शिक्षाविदों को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा - इस आशा के साथ इस ब्रह्मर्षि को शतशः नमन—

श्रद्धाञ्जलिः समर्प्यत
एतेन संस्मरणात्मकलेखेन।
विद्वदमृतवाग्भवाय
नमस्तस्मै ब्रह्मलीनाय ॥

संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

चिरस्मरणीय श्री बाबा महाराज

—आचार्य वीरेश्वर शर्मा

कभी भी यों ही अपने आप कोई विभूति भूतल पर आती है ।
अन्तस्थल पर टिकी अमिट छाप चिरस्मृति सी बन रह जाती है ।।

भूल जानाप्राकृतिक है। फिर भी कुछ ऐसा होता ही है कि जो कभी भुलाया नहीं जा सकता है उन्हीं में से एक हमारे श्री बाबा महाराज हैं। यद्यपि मेरा विशेष संसर्ग उनसे स्थायी रूप में नहीं रह पाया था। उनकी पूर्व जीवनगाथा एक प्रकार से मुझ से अछूती ही रही क्योंकि इस संसार में पहली सांस लेने के सुदूर पूर्व से ही वह भरतपुर आते रहते थे। इतना अवश्य है कि मेरे मामाजी स्व० श्री पं० गोविन्दजी मिश्र की अगाध श्रद्धा उनमें थी और यह मुझे अबोध अवस्था में ही सुनने को मिला था कि मेरा नामकरण भी पूज्यपाद 'श्री' बाबा महाराज ने ही "वीरेश्वर" प्रदान किया। उन्हीं के निर्देशानुसार मैंने सांगवेद महाविद्यालय नरवर(बुलन्द शहर) में विद्याध्ययन किया। और फिर 'श्री' बाबा महाराज का प्रत्यक्ष दर्शन यदाकदा भरतपुर आने पर होने लगा।

आचार्य श्री जी महाराज व्याकरण शास्त्र के साथ ही दर्शन शास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान थे उनके द्वारा सृजित साहित्य उनकी इस संसार को एक अनुपम देन है। महाराज श्री की स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि एक बार देखने सुनने के बाद वे कोई बात भूलते नहीं थे। यहां तक कि वे अपने मस्तिष्क में अपने भक्तजनों की जन्मतिथियां तक संजोये रहते थे। उनकी विद्वत्ता का लोहा बड़े-बड़े विद्वान मानते थे। मुझे भली भांति याद है कि मैंने अपनी डायरी के मुख पृष्ठ पर परिचय के रूप में ही वीरेश्वर शर्मा 'पापी' लिख रखा था। संयोगवश वह डायरी उनके समक्ष थी और उनकी दृष्टि इन्हीं शब्दों पर टिकी हुई थी। मैं भय और आशंका से दुहरा हुआ जा रहा था। किन्तु जैसे ही उन्होंने सिर उठाया, मैंने सिर झुका लिया। उनके चेहरे पर मुस्कुराहट थी। उन्होंने मेरी चिबुक पकड़ कर चेहरा ऊपर उठाया और पांच मिनिट में ही पापी शब्द की व्याख्या करते हुए बोले कि वेदार्थपान करने का यह कौन सा अनोखा रूप है। मैंने भी मुस्कुराते हुए पूज्य श्री जी महाराज के चरणों में झुकते हुए कहा—कि यह उस सबकी भूमिका है। श्री महाराज ने पीठ पर हाथ रखते हुए कहा—बड़े नटखट भी हो। महाराज श्री का जीवन—

आचारः प्रथमो धर्मः आचारः परमं तपः
आचारः परमं ज्ञानम्,
आचारात् किं न साध्यते" का प्रत्यक्ष प्रमाण था। महाराज श्री प्रातः शौचादि से निवृत्त होकर साधनारत हो जाते थे। ढाई घंटे पश्चात् स्वल्प प्रातरास करते, जिसमें छोटी चम्मच घृत, चार-पांच काली मिर्च, किंचित सोठ युक्त अवलेह लेते और फिर कुछ दधि के साथ आंवला अथवा

बेलगिरि का मुरब्बा लेते । तदुपरांत वे एक घन्टे भ्रमण करते थे । लौटकर दैनिक समाचार पत्रादि पढ़ते थे । वे अपना वस्त्र प्रक्षालन स्वयं करते थे । फिर उनका स्नान होता था । ग्यारह, साढ़े ग्यारह बजे के मध्य वे अत्यन्त संतुलित भोजन करते जिसमें चार हल्की चपातियां, हरी सब्जी तथा दही होता था और फिर किंचित विश्रामोपरांत दर्शनार्थियों से वार्तालाप उनकी जीवन चर्या का अंग था । तीन चार बजे के मध्य फलाहार और फिर सायंकाल भ्रमण से लौटने पर पद्मासन युक्त अवस्था में पंचस्तवी स्तोत्रादि का पाठ और फिर रात्रि के नौ बजे तक सुन्दर-सुन्दर आध्यात्मिक उपाख्यान आदि सुनाते रहते । अन्त में रात्रि की द्वितीय वेला में गोदुग्धोपरांत शयनरत होते थे । उनकी इस दैनिक प्रक्रिया में कभी कोई अन्तर आते नहीं देखा ।

महाराज श्री की वार्ताओं के कुछ अंश दिये बिना उनका स्मरण अधूरा रह जायेगा । ऐसी अवस्था में, उनकी वार्ताओं के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

बात उन दिनों की है जब महाराज श्री वाराणसी अध्ययन करते थे । उन दिनों उनके गुरुजी के यहां एक सन्त ठहरे हुए थे । उनकी सेवा का भार महाराज श्री को सौपा गया । प्रातः चार बजे सन्त महोदय एक प्रकोष्ठ में साधनारत थे और महाराज 'श्री' वन्द कपाटों के बाहर से कौतूहलवश कपाटों की भिरी से अन्दर झांकने लगे—तो देखा कि उक्त सन्त अपनी जिव्हा को शनैः शनैः बाहर लाकर भूमध्य तक ले जाते थे । यह दृश्य देखते ही महाराज श्री की चीख निकल गई और बेहोश होकर गिर पड़े । सन्त महोदय ने अपनी क्रिया में परिवर्तन किया और महाराज श्री को भयमुक्त किया और पुनः अपनी साधना में लीन हो गये ।

इस प्रकार महाराज श्री ने बताया कि जिव्हा-मूल को छील कर त्रिफला मर्दनोपरान्त और शहद के माध्यम से जिव्हा को शनैः शनैः बढ़ाकर नासिका के अग्रभाग और फिर भूमध्य तक पहुंचाने के प्रयास के पश्चात् जिह्वा को तालु में ब्रह्मरन्ध्र पर जाने की यौगिक क्रिया द्वारा सहस्त्रार कमल से अमृत वृष्टि का पान योगिजन को प्राप्त होता है । इस प्रकार श्री महाराज ने खेचरी विद्या की जानकारी सभी श्रोताओं को दी ।

महाराज श्री की दूसरी वार्ता ने श्रोताओं को आश्चर्यचकित कर दिया । घटना उस समय की है जब महाराज श्री काश्मीर भ्रमण पर थे । एक नव्वे वर्षीय वृद्ध उनसे लिपट कर रोता हुआ बोला कि आप वही है—वही हैं । महाराज श्री भौचक्के होकर बोले क्या बात है साफ-साफ कहो । उसने बताया कि आप ही तो एक दिन यहां आये थे । आपके साथ दो महात्मा और थे । मुझसे एक भगोना मंगाया । उसमें एक सर्प उबाला, उबलने पर छानने पर उसके चार भाग कर चार लड्डू बनाये । एक मुझे दिया, तीन आप सबने भक्षण किये । और जब मेंने खाने से मना किया तो उसे भी तीन भाग करके आप सबने खा लिया । देखते-देखते वे दोनों महात्मा आकाश में उड़ गए । यह देखकर मैं आपके चरणों में गिर पड़ा तो आपने दया करके मुझे बताया यह सर्प नहीं था । वरन् सर्पाकृति औषधि थी । तूने उसको लेने से मना कर दिया । अब कपड़े में चिपका हुआ जो अंश है उसके चाटने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है । इतना कहकर आप भी अन्तर्ध्यान हो गये थे । मैंने उस भाग को चाटलिया और मुझे तभी नवीन दन्तावलि प्राप्त हुई थी और यौवनावस्था की अनुभूति भी होने लगी थी । अब आपके पुनः दर्शन पाकर मैं अपने को धन्य समझ रहा हूं । इस पर महाराज श्री ने उसे समझाया कि मैं उनमें से एक भी नहीं हूं । हां इतना अवश्य कहूंगा कि सन्त और औषधियां ऐसी प्रभावशाली होती हैं ।

तीसरी घटना, जिसका कथन श्री जी महाराज अपनी वार्ताओं में किया करते थे; इस प्रकार है—कि गंगा में तैरते हुए एक बालक ने एक वृक्ष की शाखा से टकराने पर उस पर लगे फल को अपने मुंह से पकड़ लिया और संयोग से वह फल टूट कर उसके गले में उतर कर पेट में चला गया। बस उसी समय से उस बालक की भूख प्यास बिदा हो गई। किन्तु उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। चिकित्सकों को दिखाया उन्होंने उसे निरोग बताया। इस प्रकार छः माह व्यतीत हो गये तभी एक दिन एक साधु आया। साधु को जब यह बात मालूम हुई तो उसने बालक को देखकर झोली से एक बूटी दी। लड़के को वमन हुआ। और वमन में ज्यों का त्यों फल निकला। साधु ने उस फल को धोया और फिर स्वयं निगल गया और वहाँ से चल पड़ा। बालक पुनः अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो गया। अब उसे भूख और प्यास की आकांक्षा उसी प्रकार होने लगी जैसी पहिले थी। इस प्रकार महाराज श्री ने प्रकृति के भण्डार में उत्पन्न अलौकिक वस्तुओं की जानकारी हम सब श्रोताओं को दी।

चौथी वार्ता 'गुरु शुश्रूषया विद्या' सूक्ति को फलितार्थ करने वाली थी। वह इस प्रकार है। विद्वत्कुल में एक बालक पैदा हुआ किन्तु वह मूर्ख था। उसके पिता संस्कृत में पढ़ाने वाले सुयोग्य आचार्य थे। उनके पढ़ाये हुए शिष्य अच्छे-अच्छे विद्वान हो गये। किन्तु बालक मूर्ख ही रह गया। दैवयोग से पण्डित जी का स्वर्गवास हो गया। उनके परिवार में उनकी पत्नी तथा वही मूर्ख पुत्र रह गया। कुछ समय बीतने के बाद एक शिष्य ने गुरु–माता से कहा, माताजी मेरे यहां कल कथा होनी है। माताजी ने कहा, बेटा, किसी शिष्य को भेज दूंगी किन्तु शिष्य ने माता से कहा कि मेरे यहां केवल भैया ही कथा करेंगे। उनसे ही सुननी है। अन्य किसी से कथा नहीं करवानी क्योंकि "गुरु पुत्र गुरुं वन्दे" के अनुसार गुरु पुत्र ही गुरुवत् होता है। माता को शिष्य हठ से तथा अपने मूर्ख पुत्र की दशा से अत्यन्त शोक हो रहा था। इसी बीच में पुत्र माता के सामने आ गया। माता ने कहा तूने मेरा दूध लजा दिया है तथा पण्डित जी की शान में धब्बा लगा दिया। अच्छा होता जो पैदा ही नहीं होता अथवा होते ही मर जाता। माता की यह दशा देखकर बालक मरने को चल दिया आसपास कोई सन्त जंगल में रहते थे। उनको भी यह घटना मूर्ख बालक ने सुनाई। सन्त ने कहा मरना है तो अन्तिम बार बूटी और छान लो फिर मर जाना। सन्त ने बूटी और कूंडी तथा घोटने वाला डण्डा दे दिया।

घोटते-घोटते प्रातः चार बज गये तब महात्मा ने बूटी छनवाकर खप्पर में भरवा ली और पी गये। यह देखकर मूर्ख बालक को और अधिक दुःख हुआ। महात्मा ने खाली खप्पर उसके हाथ में देकर वमन कर दिया और कहा कि इसे जल्दी पी नहीं तो मार दूंगा। बालक महात्मा के विलक्षण रूप से भयभीत होकर उस वमन को पान कर गया। महात्मा ने निर्देश दिया जाओ और मेरे पुस्तकालय से कोई भी पुस्तक ले आओ। संयोगवश उसे वही पुस्तक हाथ लगी जिसे प्रातः सुनाने जाना था। महात्मा ने उससे कहा, पढ़ो और तत्काल वह पढ़ने लग गया। इस सन्त कृपा तथा सेवा प्रसाद से उस मूर्ख बालक ने जन समूह तथा दीन हृदय मां को मन्त्र मुग्ध कर दिखाया।

'महाराज श्री' के अलौकिक ज्ञान की उपलब्ध जानकारी का कथन तो एक ग्रन्थ के रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। उक्त घटनायें पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं कि जिससे पाठक वृन्द हम

सबके साथ ही महाराज श्री का स्मरण रखने में सफल हो सकें।

महाराज श्री का जीवन हमारे लिये ज्ञान का स्रोत है कि जिसका जल कभी भी समाप्त नहीं हो सकेगा और हम यह भी नहीं जान पायेंगे कि उसका उद्गम कहां है। वे एक महान विभूति थे। केवल उनका स्मरण मात्र ही हमारा जीवन यात्रा सम्बल है। आओ ऐसा ही करें ताकि जीवन पथ में सन्तोष की एक झलक तो मिलती रहे।

प्राचार्य, श्रीशंकर संस्कृत महाविद्यालय
मणिकावली जि. बदायूं

❋ विजयादशमी ❋

वीरावली हृदय सारस जागरायै
मार्त्तण्ड भैरव वपुर्जगति प्रसिद्धा।
सम्प्रेरयेदखिल राष्ट्र जना वनाय
सम्पादनाय विजया दशमी जयस्य ।।

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

वीर पुरुषों के हृदयरूपी कमलों को जगाने के लिये प्रचण्ड सृष्टि-स्थिति प्रलयकारी मार्त्तण्ड का रूप धारण करने वाली, संसार में अति प्रसिद्ध, यह विजयादशमी सम्पूर्ण राष्ट्र और राष्ट्रीय लोगों के रक्षण के लिये तथा संसार में विजय सम्पादन के लिये भली भांति प्रेरणा करें।

श्री महाराज जी
और हमारा परिवार

—श्रद्धा शर्मा

श्री श्री १०८ आचार्य श्री अमृतवाग्भव जी से परिचय प्राप्त कर हमारा परिवार धन्य हो गया पूज्यवर महाराज जी अनेक विलक्षण गुणों के भंडार थे। उनमें विद्वत्ता के साथ सरलता, उदारता के साथ मितव्ययिता, स्वाभिमान के साथ विनय, साधुसेवा के साथ सावधानी, सहिष्णुता के साथ परदुःखकातरता आदि गुण कूट-कूट कर भरे थे। आचार्य श्री, संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् थे। उन्हें अपने पिछले पांच जन्मों का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने महर्षि दुर्वासाजी से दीक्षा ली थी, भगवान श्री कृष्ण से गीता पढ़ी थी, भगवान शंकर के साक्षात दर्शन किये थे। वे सिद्धमहापुरुष थे। जिसके सिर पर हाथ रख देते वो भी सिद्ध हो जाता था। उन्होंने माँ गंगा के प्रत्यक्ष दर्शन किए थे। उनके पवित्र शरीर का गंगा जी से ही निर्माण हुआ था और गंगा जी में ही विसर्जन हुआ।

लगता है हमारे परिवार से महाराज का पिछले जन्म का आध्यात्मिक सम्बन्ध था, इसलिए बड़े ही विचित्र ढंग से परिचय हुआ। सन् 1975 में वैशाख की पूर्णिमा रविवार के दिन प्रातः श्री रवि शर्मा त्रिवेदी जी हमारे घर आये और पिताजी से कहा कि महाराज जी ने मुझे स्वप्न में आदेश दिया है कि सी–22 दक्षिण मोती बाग में एक पंडित जी रहते हैं उन्हें 'प्रभोशम्भो' का महासिद्ध मंत्र दे आओ। त्रिवेदी जी 'नित्यकर्म प्रकाश' नाम की पुस्तक लेकर आए थे जिसमें वह महासिद्ध मंत्र छपा हुआ है। यह पुस्तक त्रिवेदी जी के पूज्य पिताजी द्वारा लिखी गई है। पिताजी उस समय गंगा जी जाने की तैयारी में संलग्न थे, इसलिए महासिद्ध मन्त्र की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। पुस्तक लेकर रखली और मन्त्र प्रायः भूल ही गये। सिद्ध महापुरुष जिस पर एक बार कृपा कर देते हैं फिर उसे भुलाते नहीं हैं। दिसम्बर 1975 में पूज्यवर महाराज जी दिल्ली पधारे और श्री सीताराम जी के यहां बी–66, दक्षिण मोती बाग में ठहरे। त्रिवेदी जी के साथ पिताजी भी उनके दर्शन करने के लिए गए। रविवार का दिन था प्रातः १० से सायं ४ बजे तक पिताजी पूज्य महाराज जी के पास रहे। महाराज जी के शिष्यों का तांता लगा रहा। लेकिन उस समय में कोई धार्मिक चर्चा, सत्संग अथवा आध्यात्मिक वाद–विवाद नहीं हुआ, इसलिए पिताजी असंतुष्ट से लौट आए।

लेकिन पूज्य महाराज जी ने पिताजी पर कृपा करने का निश्चय कर ही लिया था, इसलिए वे प्रायः नित्य प्रति सायं 4 बजे घूमने निकलते, घर भी आकर दर्शन देते। कुछ महीने दिल्ली रहकर महाराज जी बाहर चले गए। फिर जून 1976 में बीमार होकर वापिस दिल्ली आये। आते ही उन्होंने पिताजी को बुलवाया और कहा

कि मेरी चिकित्सा कीजिए। पिता जी ने महाराज से निवेदन किया कि मैं चिकित्सा कार्य पहले किया करता था अब नहीं करता। मैं एक पाठ सुना देता हूं जिससे आपका रोग शमन हो जायेगा। महाराज जी ने मुस्कुराकर कहा कि इस समय मुझे पाठ की नहीं औषधि की आवश्यकता है यदि सम्भव हो तो आप डॉ० टिक्कू को बुलवा दीजिए, जो कि अखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ विद्यालय, अहिंसा भवन, शंकर रोड, नई दिल्ली में प्रधानाध्यापक के रूप में कार्यरत हैं। पिताजी ने मेरे भाई श्री ऋषि कुमार शर्मा, जो कि उसी विद्यालय में अध्ययन कर रहे थे, द्वारा डॉ. टिक्कू को कहलवा दिया और डॉ. टिक्कू ने महाराज जी की चिकित्सा आरम्भ कर दी पिता जी ने फिर निवेदन किया कि आपको पाठ से ही आराम मिलेगा। महाराज जी ने कहा कि विशेष आग्रह है तो सुनाइये। सायंकाल का पाठ हम आपके घर आकर ही सुन लेगें और अनुष्ठान आरम्भ हो गया। नौ दिन के पाठ सुनने से महाराज जी पूर्णत: स्वस्थ हों गए। यह औषधि उपचार का फल था या पाठ का प्रताप था या हमारे श्रद्धा और विश्वास का फल था या महाराज जी का अपना ही चमत्कार था, यह तो राम जी ही जानें। तब से हमारे घर पर सायं 6 बजे से 8½ बजे तक पूज्यवर महाराजजी के सान्निध्य में नित्य सत्संग होने लगा। परिवार के सब सदस्य मिलकर श्री राम रक्षा स्तोत्र के तीन पाठ, गणेश स्तोत्र, हनुमान चालीसा, बजरंग बाण, हनुमानजी के 12 नाम, भगवान शंकर की 4 स्तुतियाँ, महालक्ष्मी स्तोत्र, महराज जी द्वारा रचित श्री परशुरामस्तोत्र व शिवस्तुति, इन सब के पाठ के पश्चात महाराज जी का प्रवचन होता था। हमारा घर पवित्र तीर्थ स्थल बन गया। महाराज जी के शिष्य भी सत्संग में आने लगे।

महाराज जी प्रायः 3 बजे ब्रह्ममुहूर्त में उठ जाते थे। 3 से 5 बजे तक अपना कमरा बंद कर ध्यान लगाते थे। 5 से 6 शौच स्नान इत्यादि करते थे। 6 से 7 संध्या-वंदन भजन-पूजन इत्यादि एवं मंदिर में जाकर भगवान के दर्शन करते थे। 7½ बजे दो केले और 3 छटांक दही लेते थे। 8 से 11 बजे तक कोई न कोई शिष्य आकर उनके साथ सत्संग, धार्मिक चर्चा व आध्यात्मिक वार्तालाप करता था। वे 11 से 11½ बजे तक भोजन करते थे। घीया, तोरीं व गाजर उन्हें विशेष प्रिय थे। प्याज व टमाटर से उन्हें परहेज था। शत् प्रतिशत् सात्विक भोजन उन्हें प्रिय था। तत् पश्चात् 12 से 4 बजे तक वे विश्राम करते थे। 5 बजे फिर मंदिर में उन्हें कोई न कोई शिष्य ले जाता था। वे 9½ बजे गाय का 1½ पाव दूध पीकर सो जाते थे। उनका प्रयत्न यह रहता था कि उनसे किसी को कोई कष्ट न पहुंचे। यह उनकी आदर्श दिनचर्या थी जो कि एक योगी की होनी चाहिये। वे अपनी विचारधारा किसी पर थोपते नहीं थे, दूसरे के विचारों को बड़ी शांति से सुनते थे। वे अपने शिष्यों को भी कभी कोई आज्ञा नहीं देते थे, किसी भी विषय के हानि–लाभ समझा कर कह देते थे कि मेरी राय यह है, आज्ञा नहीं, करो वो, जो तुम्हें अच्छा लगे।

उनके अन्तिम दिनों की एक प्रेरक घटना याद आ रही है जिसका यहाँ उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। महाराज जी के शरीर छोड़ने से 15 दिन पहले की घटना है। मेरी एक सहेली कु. सीमा है। उनको प्रभु कृपा से हस्त रेखाएं पढ़ने का ज्ञान है। उस रोज अवकाश का दिन था और वह मुझसे मिलने हमारे घर आई हुई थी। महाराज जी को जब उसके आने का पता लगा तो उन्होंने उसे बुलवाया और पं. ओम प्रकाश शर्मा, जो कि उस समय महाराज जी से सत्संग कर रहे थे, का हाथ देखने को कहा। सीमा ने कहा कि इस समय मैं हाथ देख नहीं पाऊंगी क्योंकि मेरा मन (मूड) ठीक नहीं है। महाराज जी के विशेष

आग्रह करने पर उसने दो-चार बातें बताईं। वह शर्मा जी का हाथ देख ही रही थी कि महाराज जी शौचालय में चले गए और वह भी दूसरे कमरे में चली गई। महाराज जी जब आए तो सीमा को वहाँ न देखकर उसे फिर बुलवाया और महाराज जी ने अपना हाथ बढ़ाकर कहा कि मेरा हाथ देखो। उसने सहज भाव से हाथ देखने से इंकार कर दिया मुझे महाराज जी ने बुलवाकर कहा कि तुमने सीमा को मेरा हाथ देखने से मना क्यों कर दिया है? मैंने कहा महराज जी, मैंने तो मना नहीं किया। उन्होंने कहा कि तुमने अवश्य मना किया है। महाराज जी की इस बात पर मुझे रोना आ गया कि महाराज जी को मेरी बात पर विश्वास ही नहीं। फिर महाराज जी ने मेरी बड़ी बहन ऋचा को बुलवाया और पूछा कि क्या तुमने मना किया है? उन्होंने भी कहा कि मैंने तो ऐसा नहीं किया। महाराज ने फिर कहा कि तुमने अवश्य मना किया है, यह सुनकर ऋचा दीदी भी रोने लगी। हम दोनों को रोते देखकर सीमा भी रोने लगी। हम तीनों को रोते देखकर महाराज जी अचानक व्याकुल हो उठे और पूछने लगे कि बच्चियों तुम क्यों रही हो, हमने कहा महाराज जी आपने हमारी बात पर विश्वास नहीं किया इसलिए हमें रोना आ रहा है। इतने दिनों से हम आपके संपर्क सान्निध्य में हैं, हमारे परिवार का कोई भी सदस्य आपसे मिथ्या-भाषण नहीं करता। महाराज जी ने कहा ऐसी बात है और आप लोगों को बुरा लगा है तो मैं तीनों बच्चियों से क्षमा मांगता हू और अपने शब्द वापिस लेता हूं। यह था उनका अपनी भूल स्वीकार करने का साहस और पर-दु:खकातरता जो उन्हें महानता के उच्चतम शिखर पर पहुंचा देता है।

यही कारण है कि आज भी महाराज जी हमारे लिए प्रत्यक्ष हैं और समय-समय पर हमारे परिवार का निर्देशन करते रहते हैं।

द्वारा पं देश राज शर्मा
१२२६ सैक्टर-१-फरीदाबाद

निवेदनम्

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

विजानानैर्नाना विधि गति फला वञ्चन कलां
प्रवच्यन्ते लोका वरमधिगतै : शासक पदम्।
सुधासिक्तै र्नित्यं ललित वचनैर्यत्र विषय :
सकुम्भीपाक: स्याद्बिवुध मति निश्चप्रचमिदम् ॥१॥

गतां हत्यां मत्याऽबिरत मनुमत्या ऽपि निजया
महामन्त्री यत्र प्रतिदिन महिंसां प्रथयति।
अनीत्युद्धवस्तो नो निधन मनुयायात्स विषयो
विषन लक्ष्मीं धन्यो खलुदिदरिद्रासति परम् ॥२॥

श्री स्वाध्याय व. १२ सं. २

पूज्य बाबा—स्मरण—

—आचार्य धरणीधर शर्मा

पूज्य बाबा महाराज के सर्वप्रथम दर्शन संवत् २००९ श्रावण मास में करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तब मैं यही कोई ६–७ वर्ष का रहा होऊंगा। अपनी माता के साथ अपनी ननिहाल गया था। मेरे मामाजी पं. गोविन्दजी मिश्र थे। जब ननिहाल पहुंचा, बाहर की बैठक में पूज्य बाबा महाराज विराजमान थे और मामाजी पूजा की कोठरी में थे। माताजी की आज्ञानुसार मैंने बैठक में जाकर पू. बाबाजी को प्रणिपात निवेदन किया। मैं बाबा महाराज को अपना नाना आदि कोई मानकर सम्मान एवं स्नेह भाव से बैठक से उतर कर घर के अन्दर चला गया। पू. बाबा महाराज सहसा मेरे पीछे ही अन्दर चले आये। और माताजी से मेरी नाम की जिज्ञासा की। उस समय मेरी नानी जी भी वहां थीं जिन्होंने मेरा नाम मदन मोहन जैसा ही नाम बताया। साथ ही उन्होंने मेरे नाम को बदलने हेतु भी प्रार्थना की। मामा जी भी वहां आ गए। बाबा महाराज ने मामाजी से मेरा जन्मनक्षत्र आदि पूछा और तदुपरान्त मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा– "तू तो धरणीधर है"। बस सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। मैं तो यही समझा कि मेरा नाम आज रख दिया गया है।

संयोग से उसी समय हमारे मामाजी एवं माताजी के गुरुवर्य श्री पं. जगन्नाथजी ज्योतिषीजी (नदियावासी) भी वहां आ पधारे और उन्होंने भी स्नेहाशीर्वाद से मुझे अभिषिक्त कर दिया, और वह दिन मेरे जीवन का चिरस्मरणीय दिन बन गया।

प्रथम दर्शन के समय उनके व्यक्तित्व को समझने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी। पूज्य बाबा महाराज और पूज्य श्री ज्योतिषी जी महाराज दो में से मेरे सच्चे नाना कौन से हैं, मैं यह भी नहीं समझ पा रहा था। कुछ अन्तराल के बाद मामाजी को कुछ आवश्यक संकेत निर्देश देकर श्री ज्योतिषी जी चले गए। सभी लोग उनकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर थे। मैं श्री ज्योतिषी जी महाराज को ही अपना नानाजी मानने लगा।

बड़े होने पर पाया कि जब भी किसी संकट ग्रस्त प्राणी ने पूज्य बाबा महाराज से कष्ट निवारणार्थ किसी उपाय की जिज्ञासा की तो वे प्रायः सदा ही पर-शिव-प्रार्थना मन्त्र के जप का विधान बताया करते।

जब संवत् ५०२६ में नरवर महाविद्यालय से उपनयन संस्कार के उपरांत भरतपुर मामाजी के यहां आया तब भी पूज्य बाबा भरतपुर ही थे। उन्हीं के निर्देशानुसार मुझे श्रध्देय मामा जी ने (श्री गोविन्द जी मिश्र) ने पंचस्तवी के लघुस्तवादि पाठ क्रम एवं होमादि की प्रक्रिया प्रदान की। रात्रि का समय था। प्रक्रिया समाप्त होने पर ऊपर वाले कमरे में पू. बाबा महाराज को प्रणिपात निवेदन करने हेतु गया। तब कमरे के किवाड़

फिरे हुए थे । पूज्य बाबा अपनी साधना में थे । उस समय बाबा के जो दिव्य दर्शन किए, वह हर किसी को सम्भव नहीं । मैं अत्यल्प समय में ही प्रणाम निवेदन कर तुरन्त वापिस आ गया ।

बाबा की सत्प्रेरणा से ही मुझे नरौरा साङ्गवेद महाविद्यालय में अध्ययन का अवसर मिला था। उक्त महाविद्यालय के विद्यार्थी जीवन में अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला । किन्तु जब भी बाबा से चर्चा हुई तब उनका निर्देश यही रहा कि आचरण होना चाहिये, मात्र वाचिक वेदान्त निष्ठा ही पर्याप्त नहीं है ' साथ ही आत्म-विलास अध्ययन करने की प्रेरणा की।

संभवतः 1963 में, जब मैं दिल्ली से भरतपुर आया, उन दिनों भी पू. बाबा भरतपुर ही विराज रहे थे । चर्चा के दौरान मैंने पू. बाबा से नरवर चलने की प्रार्थना की । प्रार्थना स्वीकार हुई । नानीजी व माताजी को साथ लेकर बस से मथुरा एवं अलीगढ़ तदुपरांत रेल से राजघाट–नरौरा और वहां से तांगा करके नरवर महाविद्यालय सायंकाल पहुँचे ।

नरवर निवास काल में दर्शन विभागाध्यक्ष श्री बांकेलाल जी त्रिवेदी एवं साहित्य विभागाध्यक्ष श्री शिवप्रसाद जी वशिष्ठ जैसे शास्त्रज्ञ जनों के साथ वेदान्त, साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर संस्कृत भाषा में ही वार्तालाप एवं चर्चा होती रहती । उक्त प्राध्यापकों ने भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि हमें आचार्य श्री जी ने ऐसा शास्त्रीय प्रसाद दिया है जिसका रसा-स्वादन अपने जीवन काल में दुर्लभ रहा है ।

पू. बाबा के संस्कृत भाषा एवं उसके प्रचार प्रसार के प्रति अनन्यप्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण "श्री मदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान जयपुर" है जिसके माध्यम से उन्होंने अपनी लिखित वसीयत में संस्कृत भाषा के विद्यार्थियों को "आचार्य श्री अमृतवाग्भव संस्कृत छात्र वृत्ति" दिये जाने का निर्देश दिया हुआ है ।

पू. बाबा महाराज को साधना की स्थिति में दिल्ली में १० अगस्त १९८१ को रात्रि एवं प्रातः देखने का सौभाग्य मिला । शीर्षासन की स्थिति में निरन्तर अविच्छिन्न पाठ प्रक्रिया चल रही थी एवं प्रकृतमुद्रा अभूतपूर्व थी । दैनिक पाठ की पुस्तकें हस्त लिखित भी थीं और अति सम्मानित एवं वस्त्र बद्ध थीं ।

जब जब भी आचार्य श्री का निवास भरतपुर हुआ प्रतिदिन मंगलमय विभूति दर्शन हेतु अनेकानेक धर्म प्रेमी सज्जन पुरुषों का आवागमन होने से स्थान तीर्थवत् हो जाता था । अतीव सुख एवं शांति का अनुभव होता था ।

एक बार संभवतः सन् १९५९ में जब पूज्यपाद बाबा भरतपुर आवास कर रहे थे, अप्रत्याशित रूप से एक बस भर कर उनके भक्त जन कांगड़ा, सोलन, काश्मीर एवं पंजाब प्रांत आदि से दर्शनार्थ आये थे । सभी भक्त जनों ने बस से उतरकर कीर्तन करते हुए अनेकानेक प्रकार से आचार्य श्री जी का भाव विह्वल होकर अर्चन-वन्दन-स्तवन आदि किया ।

भरतपुर में पू. बाबा के भक्त एवं प्रिय जनों में श्री धनेश चन्द वैद्य, पं. रामजी लाल जी वेदपाठी, प्रो. प्रेमनिधि शास्त्री, श्री महेश चन्द शर्मा एडवोकेट, डा. रामानन्द तिवारी, प्रो. हुकमचन्द चतुर्वेदी, श्री धर्म गोपाल चतुर्वेदी एडवोकेट, स्व. श्री पं. बनवारी लाल जी, स्व. श्री मनोहर लाल फोटो-

ग्राफर, स्व. सेठ श्री लक्ष्मीचन्द गुप्ता एवं पं. बाल बिहारी जी के अतिरिक्त भरतपुर राज घराने के स्व. रावराजा श्री गिरधारी शरणसिंह जी आदि अनेक प्रमुख विद्वान एवं धनी मानी व्यक्ति रहे हैं।

समूचे वृज क्षेत्र में कर्मकाण्ड, ज्योतिविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान, मंत्र-मर्मज्ञ श्री पं. जगन्नाथ जी ज्योतिषी नदिया निवासी एवं ज्योतिष-संस्कृत साहित्य के दूसरे वयोवृद्ध विद्वान स्व. पं. मदन लाल जी भी पूज्यपाद के प्रशंसक तथा घनिष्ठ संपर्क में रहे थे।

भरतपुर में आज भी श्री रमेशचन्द एडवोकेट, डा. धर्मेश्वर, श्री सम्पूर्ण दत्त मिश्र ठा. विश्वंभरसिंह, बौहरे जगदीश प्रसाद, छोटेलाल सैनी, श्रीमती शकुन्तला शर्मा, श्री रघुनाथ प्रसाद. श्री जगन्नाथ एवं सियाराम जी पंसारी आदि अनेक महानुभाव पू. बाबा के प्रेमी भक्त जनों में से हैं।

जयपुर में पू. बाबा के भक्तों में सर्व श्री वि० सा० गुप्ता, कालीचरण शर्मा, श्री अरुणेश कुमार शर्मा, गिर्राज प्रसाद, जी, श्री कपूर, अमर नाथ राजपुरोहित, राकेश कुमार एडवोकेट, आर. के गुप्ता, श्री एस.एस. राव सुरेश कुमार शर्मा, जगदीश चन्द शर्मा (महसाना) श्री हीरा शंकर गोयल, श्री त्रिपुरारीलाल शर्मा एडवोकेट, श्री द्वा० डागा, श्री आचार्य रामस्वरूप अग्निहोत्री शांति स्वरूप अग्निहोत्री आदि हैं। श्री गिर्राज शरण जी गुप्ता एवं श्री सियाराम गर्ग तथा श्री पं. दुर्गादत्त जी शर्मा पू. बाबा के अत्यन्त विश्वस्त एवं अनन्य निष्ठावान भक्त हैं।

अलवर निवासी स्व. श्री दयानन्द एवं स्व. श्री रमानन्द सारस्वत अनन्य भक्त थे। भरतपुर निवासी श्री पं. रांमजी लालजी वेदपाठी कर्मकाण्ड के सुयोग्य विद्वान हैं तथा पू. बाबा के निष्ठावान भक्तों में से एक हैं।

श्री वेदपाठी जी के अनुसार पूज्य बाबा के पिता श्री कामवन (कामा–जिला भरतपुर) के गोस्वामी देवकीनन्दन आचार्य के परिचितमित्रों में से थे। गोस्वामी जी भरतपुरराजपरिवार के तथा अन्य हजारों वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों के गुरु रहे। समूचे वृज क्षेत्र में उनका धार्मिक एवं तपस्वी व्यक्तित्व प्रख्यात था। पू. बाबा के पिता श्री प्रायः कामा भी आते रहा करते थे और एक बार जब बाबा केवल दस वर्ष के थे, अपने पिताजी के साथ कामा आये। गोस्वामी श्री देवकीनन्दन आचार्य ने पूज्य बाबा के पिता-श्री को तो बैठा लिया, किन्तु उन्होंने बाबा (पूर्वनाम श्री वैद्यनाथ) को बैठने के लिए नहीं कहा। अतः वे खड़े रहे। तदन्तर ध्यान आने पर गोस्वामी जी ने इन्हें बड़े स्नेह भाव से अपनी गोद में बिठा लिया। यही नहीं एक बार बाबा अपने पिता जी के साथ गोस्वामी देवकीनन्दन आचार्य की बम्बई यात्रा में भी उनके साथ वहां गये थे जहां उनके द्वारा देखे गए गोस्वामी जी की तपस्या के चमत्कार की कथा प्रायः सुनाया करते थे।

बाबा महाराज एक बार जब रेल में कहीं यात्रा कर रहे थे, तब उसी डिब्बे में भरतपुर निवासी पं. मदनलाल जी यात्रा कर रहे थे, उस समय पंडितजी शैव दर्शन से सम्बन्धित एक ग्रन्थ पढ़ रहे थे। बाबा ने भी उस ग्रन्थ को देखा और चूंकि दोनों का एक समान दर्शन पद्धति के प्रति झुकाव था अतः दोनों में परस्पर परिचय घनिष्ठ हो गया।

यात्रा में बिछुड़ने से पूर्व पं. मदनलाल जी ने बाबा को लौटते समय भरतपुर रुकने का आग्रह

करते हुए आमन्त्रित किया । तदनुसार लगभग संवत् १९७९ में बाबा सर्वप्रथम भरतपुर पधारे और पं. मदनलाल जी के यहां ही रुके थे । उन दिनों सर्दियों में भी बाहर एक छप्पर में ही सोते थे । केवल एक रेशमी दुपट्टा (शाल) डाले रहते थे ।

तदुपरांत पं. गोविन्दजी मिश्र से भेंट हुई और फिर बाबा उनके यहां निवास करने लगे । यहीं पर तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट के कार्यालय में नियुक्त बाबू विहारीलाल जी तथा अलवर निवासी विजयराघवाचार्य जी ने भी बाबा से भेंट की । पू. बाबा के आर्शीवाद फलस्वरूप उनकी विशेष मनोकामना भी पूर्ण हुई । बाबा सदा ही साधन –भजन करने का उपदेश दिया करते थे । कर्मकांड ज्योतिष एवं भागवत आदि अनेक शास्त्रीय विषयों पर सविस्तार चर्चा होती थी ।

श्री वेदपाठी जी के अनुसार ही पू. बाबा जब तब भजन कीर्तन भी किया करते थे तथा निम्न पंक्तियां सस्वर गाया करते थे ।

जय हो बीजरूपा, जय हो महामाया ।
जय हो आदिशक्ति, जय हो शिव जाया ।।

भरतपुर के प्रसिद्ध आयुर्वेद विशेषज्ञ श्री पं. धनेश चन्द्र जी वैद्य, जो पुर्व में पू. बाबा के निकट सम्पर्क में और उनके साथ अनेक यात्राओं में साथ रहे की मान्यता है कि बाबा महाराज जैसा अद्-भुत प्रतिभाशाली विद्वान महापुरुष अन्यत्र देखने सुनने में नहीं आया ।

वेद विद्यालय
पुरानी गुड़ की मण्डी
बड़ा बाजार-भरतपुर

❀ निवेदनम् ❀

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

निदानं धर्माणां किमपि हृदि साक्षात्कृतवतां
पुरा कैश्चित्प्राप्त्यं कठिनतम मासीदृषिपदम् ।
इदानीं किं ब्रूयामहह !! वृषलानांखलु तति–
र्विनैवा ऽऽ रूढा ऽऽस्ते श्रमकण मृषीणा मृषभताम् ।।१।।

सुधां मन्वानानां शकृदनुपलं पङ्किलहृदां
नृणां भूदाराणां यदि हृदि पदं योगमहिमा ।
न दत्ते नोचित्रं द्रविण ललना लोलितदृशां
न भोगभ्रष्टानां भवति विषयोऽसौ हतधियाम् ।।२।।

श्री स्वाध्याय चैत्र शु. १० सोमवार
सं. २०११ वि वर्ष १३ सं ३

सत्संग का सुख

—कविपुण्डरीक सम्पूर्ण दत्त मिश्र, एम० ए० (संस्कृत)
(अंग्रेजी)

एक बार मौलिश्री के वृक्ष के पास मेरे परिचय की पहली रात के कुछ घण्टे स्व स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य के साथ बीते थे। तब मैं बीस वर्ष का था, पाणिनि-व्याकरण, ज्योतिष, संगीत, अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भूगोल, वैदिक-तान्त्रिक कर्मकाण्ड, आयुर्वेद आदि पढ़ने के बाद बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा में साइंस बायोलोजी का विद्यार्थी था और सर्जन बनने के लिए मेडिकल कॉलेज में प्रवेश का उपक्रम कर रहा था। ११–१२ वर्ष की अवस्था में गायत्री–दीक्षित हो चुका था। नदिया-भरतपुर के निवासी स्व० पण्डित जगन्नाथजी ज्योतिषी मेरे दीक्षागुरु थे। गायत्री से क्षेत्रीकरण करता हुआ इस जन्म के गायत्री जप को गत जन्म के गायत्री जप से मिला चुका था। १४-१५ वर्ष की वय में श्री बाला त्रिपुर सुन्दरी की उपासना आरम्भ कर दी और गुरु से पूछकर सरस्वती के एक विशिष्ट मन्त्र की चन्द्र-ग्रहण में जप होम के साथ सिद्धि की थी।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य से परिचय का प्रथम दिन, दिन ढलने से पहले पूरी दुपहरी राजा साहब तथा अन्य कुछ गिने चुने लोगों के सामने मेरी उनसे सृष्टि रहस्य पर बात होती रही थी। बातचीत का तेवर देखकर लोग चकित थे पर कुछ कह नहीं सकते थे, क्योंकि आचार्यश्री को मुझसे बात करने में रस आ रहा था। वृद्धजन भी उन्हें बाबा महाराज कहते थे। वे उस समय मेरी बीस वर्ष की अवस्था में लगभग पैंतालीस वर्ष के रहे होंगे और तीस पैंतीस वर्ष से अधिक के नहीं लगते थे। इसके बाद तो लगभग पैंतीस वर्ष मेरा उनसे गहरा सम्पर्क रहा। मैंने उनसे जितने समय जितने विषयों पर उनसे बात की है, उतनी किसी ने भी नहीं की होगी। स्व. गोविन्दजी मिश्र के घर भरतपुर में आकर वे लगभग पैंतालीस वर्ष ठहरते रहे। गोविन्द मिश्र मेरे पिता के फुफेरे भाई थे। वे भरतपुर के महाराजा ब्रजेन्द्रसिंह के राजपण्डित भी रहे। जब भी आचार्य श्री भरतपुर आते, ४–५ घण्टे उनसे मेरी प्रतिदिन बात होना साधारण बात थी। प्रायः ८-१० घण्टे प्रतिदिन भी बात होती रही, इसमें वह समय अधिक महत्वपूर्ण है जब मेरी उनसे घण्टों एकान्त में बातें हुई हैं। इनमें से कुछ तो इतनी मार्मिक हैं, जिन्हें मैं कभी किसी को नहीं बता सकता। वे घर भी आते थे और कभी-कभी मुझे साथ लेकर जंगल घूमने चले जाते थे। घूमने का उनका प्रतिदिन का नियम था। कभी-कभी तो हम भरतपुर के विश्व प्रसिद्ध घना में घूमते मीलों निकल गए हैं।

जब मैं अपने द्वितीय मौलिक संस्कृत काव्य 'सूक्तिपञ्चामृतम्' का हिन्दी और अंग्रेजी में पद्यानुवाद कर रहा था तो वे प्रतिदिन सांझ को इसे सुनने मेरे घर आया करते थे। वे मुझसे केवल संस्कृत और हिन्दी सुनते।

वे अन्तिम बार मुझसे १९७८ ई० के ग्रीष्मकाल की दुपहरी में मेरे घर अकेले आकर मिले थे। मैंने भी उनसे अकेले ही बात की। बातचीत के बाद जब मैं उनको द्वार तक छोड़ने गया तो बहुत गम्भीर मुद्रा में था। वे बड़े स्नेह से मुझे खिन्न न रहने का आग्रह करते चले गये। मेरी यह उनसे अन्तिम भेंट थी। इसके चार वर्ष बाद उन्होंने दिल्ली में शरीर छोड़ दिया। शरीर छोड़ने से कुछ समय पूर्व तक उन्होंने मेरे पत्रों का बड़ा स्नेहपूर्ण उत्तर श्री रतनलाल जैन से दिलवाया था क्योंकि वे स्वयं कभी नहीं लिखते थे और मेरा भी उनसे पहले कभी पत्र विनिमय नहीं हुआ था। उन्होंने मेरे 'राधाकृष्णकलानिधिः' (रासनायिकास्तवः, रासनायकस्तवः) की रचना की सूचना पाकर हर्ष व्यक्त किया था। शृङ्गेरी पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री अभिनवविद्यातीर्थ तो मुझसे इन स्तोत्रों के कुछ श्लोक सुन चुके थे, पर वे एक भी न सुन सके जबकि वे मेरी प्रायः प्रत्येक नवीन रचना को मेरे स्वर में सुनते आये थे।)

यदि कभी मेरे पीठ पीछे भी किसी ने उनसे मेरी निन्दा की, तो उन्होंने तत्काल उसे रोक दिया क्योंकि मुझसे प्रत्यक्ष परिचय होने के अतिरिक्त उन्हें मेरे स्वभाव पर मेरी जन्म कुण्डली के कारण भी विश्वास था।

'श्री सञ्जीवनीदर्शनम्' में उन्होंने जिस घटना का वर्णन किया है वह उन्होंने मुझे समय के व्यवधान से दो बार सुनाई थी।

'ज्वर असाध्य हो गया था, औषधि और जीवन की आशा छोड़ चुका था। निराश होकर धरती पर चटाई पर लेटा रहता था। एक दिन की बात, सन्ध्याकाल था, सूर्यास्त नहीं हुआ था कि तीन देवता आए।'

'स्वप्न में ?' मैंने पूछा
नहीं, साक्षात्, मैं जाग रहा था।'
'किधर से आये ?'
'दक्षिण से'
'अच्छा फिर ?'

'उनमें से एक का मुख तुम्हारे जैसा था। उसने अपने कमण्डलु का जल मुझे पिलाया और मुझ पर छिड़का भी। उसने मुझे मन्त्र दिया और तब तक खड़ा रहा जब तक जप करते-करते मन्त्र मैंने कण्ठस्थ नहीं कर लिया। उसने मुझे सांत्वना दी, जीवन में विश्वास उत्पन्न किया और तीनों चल दिए।'

'किधर ?' मैंने पूछा।
'उत्तर को,' आचार्य श्री का उत्तर था।

'श्री सञ्जीवनी दर्शनम्' में आचार्य श्री ने इस घटना का जो वर्णन किया है उसमें और मेरे उपर्युक्त वर्णन में अन्तर अवश्य होना चाहिए, क्योंकि यहाँ मैंने घटना का मुख-प्रसूत सार-संक्षेप प्रस्तुत किया हैं।

उन्हें देवता, ऋषि, दिव्य, एवं सिद्धपुरुषों के दर्शन तो होते ही रहते थे, 'श्री सिद्धमहा-रहस्यम्' में उन्होंने कोप भट्टारक दुर्वासा को प्रणाम इसलिए किया है कि उनके उन्हे दर्शन मिले थे। अनेक भूत-भूतनियाँ और प्रेत भी उन्हे दिखाई देते रहे। जब वे भरतपुर के राजा की गोवर्धन की कुञ्जों में निवास कर रहे थे, तो वहाँ उनसे कुछ राजाओं के प्रेत भी आकर मिले थे। राजसवेश में एक ऐसा कबन्ध (कटे सिर वाला) आया, जो केवल कराहता था। एक दिन साँझ को तीन लोग पास पड़ी बैंच पर आकर बैठ गए। बातें होने लगीं। सन्देह पर आचार्य श्री ने पूछा—

'तो क्या तुम प्रेत हो ?'
'हां, महाराज,' तीनों बोले।
'मेरे पास क्यों आए हो ?'
'आपको महात्मा समझकर, उद्धार के लिए !'

'नहीं भाई, मैंने किसी का ठेका नहीं लिया है। मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकता।'

एक दिन आचार्य श्री साँझ को कुञ्ज की छत पर भजन का स्थान ढूंढ़ रहे थे, तो सहसा एक व्यक्ति आकर बोला—

'महाराज, यहाँ बैठकर भजन कीजिए।'
'क्यों ?'
'यहाँ महाराज, मैं मरा था। मुझको विष दिया गया था।
'तो क्या तुम भी प्रेत हो ?'
'हां, महाराज।'

आये दिन की घटनाओं से उकताकर वे भरतपुर लौट गए। एक राजपूत प्रेत रामसिंह का नाम लेकर तो उन्होंने अनेक तीर्थों में गोते लगाए थे। उस पर उन्हे दया आ गई थी। किसी राजा या जागीरदार के स्वागत कक्ष में ठहरे हुए उन्हे रात को रामसिंह मिला था और अपने उद्धार की प्रार्थना करके हाथ जोड़ता हुआ सामने मुंह किए पीठ पीछे भीत में समा गया था।

भरतपुर पाई बाग में नहर के किनारे मनसा देवी का मन्दिर हैं। उसी के पास एक और मन्दिर है, जिसकी पीठ पर कभी जाट मन्दिर लिख दिया गया था। उसमें एक विशाल इमली का वक्ष है।

एक दिन मेरे साथ श्री अमृतवाग्भवाचार्य वहाँ होकर घूमने जा रहे थे। साँझ के पाँच बजे का समय होगा। उन्होंने इमली की ओर देखा और टकटकी लगाकर रुक गये।

'क्या बात है ?' मैंने पूछा।
'देखो, यह जाँच करना कि यहाँ कोई बुड्ढा बाबाजी रहता था क्या ?'
यह कहकर वे आगे बढ़ गये। दूसरे दिन उन्होंने कहा—

'कल मैंने उस इमली पर भूत देखा था।'

'क्या कर रहा था ?'

'नहर की ओर मुँह करके डाल पर पैर लटका कर बैठा था।' ऐसी अनेक विचित्र घटनाएँ मुझे सुनाई, जिनका मैं यहाँ विस्तार करना नहीं चाहता।

उन्होंने अपने पाँच जन्मों की कथा का स्मरण रखने के लिये एक मन्दाक्रान्ता छन्द संस्कृत में बना रखा था। वह यह है—

'सोऽहं विद्याधरनिवसनात्प्राप्य मानुष्यमेत-
च्छापाद्भ्रष्टो निजगुरुपदाद्गुर्ववज्ञाजदोषात्।
राजा भूत्वा प्रथमजनने विप्रबालस्ततो द्वि-
स्तुर्ये जन्मन्यपि पुनरहो ! विप्रभावं गतोऽस्मि॥'

—श्री अमृतवाग्भवाचार्यः

मैं विद्याधर लोक से आकर मनुष्य बना हूँ। विद्याधर लोक में मैंने अपने गुरु की अवज्ञा की थी। उन्होंने मुझे शाप दिया और इस कारण मुझे वहाँ अपने महत्त्वपूर्ण पद से भ्रष्ट होकर धरती पर आना पड़ा। वहाँ से आते ही पहले मैं यहाँ राजा बना। फिर दो जन्मों में ब्राह्मण बालक बना। अब चौथे जन्म में भी मैं यहाँ ब्राह्मण (अमृतवाग्भवाचार्य) के रूप में विद्यमान हूँ।

इस श्लोक को उनसे सुनकर मैंने पूछा—

'राजा आप कहाँ बने ?'

'राजस्थान में'

'किस राज्य के ?'

'अमुक राज्य का'

'क्या नाम था ?'

'अमुक नाम था।'

'इस नाम के तो दो राजा हुए हैं वहाँ, आप प्रथम थे या द्वितीय ?'

'द्वितीय,' श्री अमृतवाग्भवाचार्य बोले।

मैं जब राजस्थान के किसी गवर्नमेण्ट कालिज में इंगलिश का प्रोफेसर था, तो वहाँ के महलों को दूर से देखता हुआ निकल जाता था। इसलिये मैंने पूछा—

'वहाँ के महल तो बड़े सुन्दर हैं। क्या कभी आप इस जन्म में उन महलों में गये हैं ?'

'कभी नहीं। मैं उस नगर में भी कभी नहीं गया।'

'क्योंकि वहाँ जाने से आपका मन भर आयेगा।'

'हाँ, इसीलिये नहीं जाता। उन महलों में मैं कहाँ क्या करता था, यह सब आज भी मेरी स्मृति में है। जो महल कभी मेरे थे उनमें अब मुझे कोई घुसने भी नहीं देगा। फिर क्या करना है वहाँ जाकर ?'

'आपके रानियाँ थीं।'

हाँ, थीं। इत्र बेचने वाला आया। 'सरकार, यह इत्र देखिये, वह देखिये,' उसने बहुत से इत्र दिखाये। मैंने खरीदे भी। एक महापाप की भी स्मृति है। यद्यपि मैंने उस ब्राह्मण को धनादि से सन्तुष्ट कर दिया था, फिर भी वह पाप मेरा इस जन्म तक पीछा कर रहा है।'

'और क्या स्मृतियाँ हैं ?'

'स्मृतियाँ अधिक नहीं हैं। एक जैन भी मेरा बड़ा मंत्री था, जो बहुत बूढ़ा होकर मरा है। उसके मरने की बात जिस दिन समाचार पत्रों में छपी उससे पिछली रात को उसने मुझसे स्वप्न में कहा कि वह उत्तरप्रदेश के हरदोई में जन्म लेकर धनी व्यक्ति बनेगा और मुझे उसका पुत्र बनना है।'

'आपका क्या विचार है ?

'मैं इस पुनर्जन्म को टालने का प्रयत्न कर रहा हूँ।'

राजा रहते हुए उन्होंने जो महापाप किया था, वह उन्होंने मुझे बता दिया, क्योंकि वे यह कहा करते थे कि प्रकट करने से पाप और पुण्य दोनों घटते हैं।

'आपने राजा के रूप में शरीर कब छोड़ा ?'

'मेरी स्मृति के अनुसार, संवत् १९४८ विक्रमाब्द (१८९१ ई०) में।'

'फिर आप ब्राह्मण बालक बने।'

'हाँ, पाँच वर्ष की वय में मर गया।'

'कहाँ ?'

'रावलपिण्डी के पास कहीं।'

'फिर ब्राह्मण बालक बने।'

'हाँ, फिर मर गया।'

'कितने वर्ष के होकर ?'

'सात वर्ष का'

'कहाँ ?'

'गुजरात के कूजा स्थान में'

'और कुछ ?'

'विद्याधर लोक में जाने से पहले भी मैं धरती पर कहीं किसी राजा का लड़का था। तब मैं २२ वर्ष की अवस्था में मर गया था। उस जन्म का पिता राजा मुझे इस जन्म में कश्मीर में मिला। वह मटन में शिवजी नाम का ब्राह्मण एकाउण्टेण्ट था। उसने मुझे न पहचानते हुए भी स्वाभाविक स्नेहवश इस जन्म में बड़ा सुख दिया है।'

'यह सब सपना सा लगता है, कल्पना सी प्रतीत होती है।'

'पर यह बात किसी से कहना मत।'

'क्यों ?'

'लोग समझेंगे मैं अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रचार कर रहा हूँ। दूसरा कारण, मायावी

लोग अपने विषय में ऐसी अद्भुत बातें गढ़कर प्रचार कर सकते हैं, ताकि उन्हें सुख भोग प्राप्त होता रहे।'

'पर कभी किसी को न बताने से तो अनेक साधक इस पर विचार करने से वञ्चित रह जाएँगे।'

'अच्छा तो फिर मेरे जीते जी तो प्रकट मत करना। मुझे वचन दो।'

'दे दिया, आपके जीते जी परिवार से बाहर किसी से नहीं कहूँगा।

अपनी पच्चीस वर्ष की वय में जब मैंने अपना पहला मौलिक संस्कृत काव्य 'ऋतूल्लासः' बनाकर उनको सुनाया, तो वे इससे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने भरतपुर की कोठी वनविहार (कम्पनी बाग) में भरतपुर के पण्डितों और नागरिकों की सभा की और मुझे 'कविपुण्डरीकः' की पदवी प्रदान करते हुए यह शार्दूलविक्रीडित लिखा—

'स्वल्पाकारमपि प्रसाद-मधुरं काव्यं सुधावर्षणं
निर्मायैतदनाविलं खलु ऋतूल्लासाभिधानं कविः।
विश्वेषां कविताकृतां सुमनसां चेतांसि संप्रीयणन्
लब्ध्वायं कविपुण्डरीकपदवीं जीयात्सतां संसदि ॥'

—श्री अमृतवाग्भवाचार्य

इस श्लोक के आगे उन्होंने मेरी प्रशंसा में संस्कृत गद्य भी लिखा, जो निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से छपे मेरे 'ऋतूल्लासः' में लगभग तीस वर्ष पहले इस श्लोक के साथ छप चुका है। जब मेरा 'ऋतूल्लास' छप कर आया, तो उन्होंने कहा—'नाचो' और मै सुहागरात की नववधू के समान लाज के मारे मर गया। काव्य छपवाने से पहले मैं इस चिन्ता में था कि इसकी भूमिका किससे लिखवाई जाय। तभी आचार्य ने मुझे एक श्लोक सुनाया। श्लोक सुनकर मैं तड़प उठा, बोला 'नाम बताइये, यह किसका श्लोक है?' आचार्य बोले, 'यह जयपुर के पण्डित श्री हरि शास्त्री दाधीच के 'अलङ्कारकौतुकम्' के मंगलाचरण का श्लोक है।'

मैने तत्काल अपना 'ऋतूल्लासः' (हस्तलिखित) जयपुर में अपने छोटे भाई के हाथों श्री हरिशास्त्री के पास भेजा और उन्होंने उसकी भूमिका लिख दी, जो 'ऋतूल्लासः' में छपी है।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य के "श्री विंशतिकाशास्त्रम्" की संस्कृत भूमिका भी श्री हरिशास्त्री ने लिखी है। श्री हरिशास्त्री ने भगवती ललिता के उन एक हजार नामों पर एक हजार श्लोक लिखे थे, जो आठ वाग्देवताओं ने मिलकर लिखे हैं। श्री अमृतवाग्भवाचार्य ने शास्त्री जी के 'ललितासहस्र काव्यम्' को छपवाकर बंटवा दिया और कहा कि उनका जन्मान्तर का ललिता की पूजा का कोई संकल्प पूरा हो गया है।

कहाँ तक लिखूँ? श्री अमृतवाग्भवाचार्य के साथ मेरी बहुत स्मृतियां हैं। मैने उन्हें कई बार क्रोध करते भी देखा है, पर किस पर और क्यों, यह नहीं बताऊंगा। मेरे सात पुत्रों में एक का नाम उनका रखा हुआ है—पुष्य नक्षत्र के दूसरे चरण में जन्म के कारण हेमन्तकुमार मिश्र। मुझे

कविपुण्डरीकः' की पदवी देकर अपना अभिप्राय समझाते हुए उन्होंने मुझसे कहा था कि पुण्डरीक शब्द में श्लेष के साथ समास करते हुए कवियों में पुण्डरीक अर्थात् श्वेत कमल सात्त्विक रूप अथवा कवियों में पुण्डरीक अर्थात् सिंह राजस रूप यथेच्छ प्रयोग के लिये है। मेरे घर का नाम 'उल्लास-श्रीभवनम्' भी उन्हीं का रखा हुआ है, जो उन्होंने मेरे 'ऋतूल्लासः' को पढ़कर उसके अनुकूल ही उसके छपने से पहले रखा था।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य स्वाभिमानी, दयालु, विद्वान्, उपासक, विरागी, सहृदय संस्कृत कवि एवं परशुराम प्रिय राजस ब्राह्मण थे। एकान्त में वे मेरे साथ अवस्था के अन्तर को भुलाकर किस प्रकार बराबर के धरातल पर उतर कर बात करते थे, यह बात आज मेरी स्मृति का विषय बनकर रह गई है। उनका सम्पूर्ण सद्भाव मेरे ही प्रति हो, ऐसी बात नहीं। जो भी उनमें श्रद्धा रखते थे, उनकी सेवा-शुश्रूषा में रहते थे, उन सबके प्रति सरल सद्भाव उनके मन में होता था। वे उन सबसे हित की बात कहते थे। यही कारण है कि आज अनेक लोग श्रद्धा से, ममता से उनका स्मरण करते हैं। कामना के प्रसङ्ग में वे हित शब्द पर विशेष बल देते थे। वे कहा करते थे कि रुचि तो पापमय भी हो सकती है, पर हित में वह बात नहीं। जहाँ राजा-रानियों से, सेठ व्यापारियों से, अफसरों से उनके सम्पर्क रहे वहां मध्यमवर्ग से तथा दरिद्रों से भी थे। वे कहा करते थे कि सज्जनता या दुर्जनता, धनवत्ता या निर्धनता पर निर्भर नहीं। इसलिये उनका सद्भाव जीतने के लिये स्वयं में सज्जनता और सद्गुणों के सन्धान का संकल्प आस्तिकता के साथ अनिवार्य था। पता लगने पर पापियों के प्रति उनकी दृष्टि बदल जाती थी, चाहे वे कितने भी बड़े लोग क्यों न हों। पर वे नीति से भी जीवन में बहुत काम लेते थे। मुझसे कहा करते थे, 'मैं जिसे नहीं चाहता उसकी उपेक्षा कर दिया करता हूँ। तुम भी किसी से कुछ कहा मत करो, उपेक्षा कर दिया करो। उपेक्षा बहुत बड़ा अस्त्र है।'

श्री अमृतवाग्भवाचार्य भगतसिंह के साथी राजगुरु, सुखदेव के साथ बचपन में खेले थे। ऐसा उन्होंने मुझसे कहा। उन्होंने कई बार मुझसे कहा, 'मैं आत्मकथा लिखना चाहता था पर अब.... अब क्या लिखूँगा? अब तो बहुत समय निकल गया। हाँ, अपने विषय में तुम अवश्य लिख जाना। किन-किन छोटे बड़े लोगों के साथ तुम्हारी क्या-क्या अनुभूतियाँ रहीं यह अभी से लिखते चलो।' यह बात डाकुओं के उस जंगल में भी उन्होंने मुझसे कही, जहाँ वे पाँच मील मेरे साथ पैदल चले थे, पर मैं सत्तावन वर्ष का होने के बाद अब अपनी आत्मकथा लिखना आरम्भ कर रहा हूँ।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य पञ्चस्तवी पर एक बड़ी संस्कृत टीका लिखना चाहते थे, पर लिख नहीं सके। इसका एक कारण था। वे यह प्रतिज्ञा कर चुके थे कि जब हरभट्ट की दस हजार श्लोकमान की टीका प्रकाशित हो जायगी, तब वे अपनी टीका लिखेंगे। हरभट्ट कश्मीर के या कहीं के कोई बड़े पण्डित थे। पता नहीं हरभट्ट का क्या हुआ, पर इस चक्कर में उनकी टीका रह गई।

मैं कब कितने शक्तिशाली शत्रुओं को कैसे ठुकराता चलता हूं, इसका थोड़ा बहुत परिचय उनको रहता था। इसलिये भी वे मुझसे मेरी अनुभूतियाँ लिखते जाने का आग्रह किया करते थे। संसार की असारता की ध्वनि करते हुए एक दिन वे मुझसे बोले—

'एक राजा का लड़का था, मेरे साथ खेला करता था।'

'कहाँ के राजा का ?' मैंने पूछा।

'कश्मीर'

'क्या नाम था ?'

'गुलाबसिंह। कहा करता था, 'जब मैं राजा बनूँगा तो तुम्हें प्रधानमन्त्री बनाऊंगा।'

'फिर वह राजा बना ?'

'कहाँ बना ? उससे पहले ही मर गया।'

अब तो स्वयं श्री अमृतवाग्भवाचार्य भी जा चुके है। उनको शरीर छोड़े यह तीसरा वर्ष पूरा हो रहा है। उनसे मिलने की कभी भड़भड़ी सी उठती है। आज मुझे उनकी स्मृति तब अधिक सताती है, जब मैं कभी गोवर्धन, वृन्दावन, मथुरा आदि की यात्रा करता हूं। यद्यपि मेरा उनसे गुरु शिष्य का सम्बन्ध नहीं था पर उनकी संगति में जैसी बातें सम्भव थीं, वैसी बातें करने वाला आज कोई नहीं। वह सत्संग का सुख दुर्लभ हो गया है।

उल्लास श्रीभवनम्
गोपालगढ़, भरतपुर

❀ निवेदनम् ❀

[श्री अमृतवाग्भवाचार्यः]

नरो योगभ्रष्टो मुहुरतनु योगाय यतते
भवं भोगभ्रष्टोऽप्यहह ! भग-भोगाय भजते।
जनः स्पष्टस्वेष्टोऽनुकलितकुचेष्टोऽति कृपणो
यथा कृष्णःवीरोऽङ्गुलिवृत चपेटो लुठति कौ ॥१॥
अजस्रं स्वं राष्ट्रं जगति जननीति प्रथयता-!!
महो लोका ! लीलां वृतकलिकलानां कलयत।
स्वराष्ट्रस्येदानीं स्वमपि पतिभावं गमयतां
प्रतिष्ठा ह्यार्याणामपि हृदि यदुन्मेषमयते ॥२॥

श्री स्वाध्याय—
आषाढ शु० १० शनिवार
सं २०११ वि.–वर्ष १३ सं ७

करुणावतार स्वामी जी

— कस्तूरी लाल आनन्द

१६४४ के दशहरे के बाद नवरात्रों के लगभग स्यालकोट-एक मन्दिर में पहली बार दर्शन हुए।

मेरे पास स्वामी जी (बाबा जी) के अपने हाथ का लिखा श्री राष्ट्रालोक पुस्तक है। आप बिना अपना नाम, पता बताए लगभग ६ महिने वहाँ रहे उनसे बहुत कुछ सुना, खास तौर पर श्री आत्म विलास उनसे अच्छी तरह पढ़ने को मिला-बिना जाने कि यह पुस्तक उनकी ही लिखी है-फिर वह चले गये। ३ साल उनकी खोज बिना नाम जाने करने पर बड़ी ही आश्चर्यजनक हालात में उनके दुबारा दर्शन हो गये। १६४७ में, यह सारा वृत्तान्त मैंने एक बार लिख कर उनको दिखाया भी था। उसका नाम मैंने 'पुण: मिलन' रखा था, समय मिला तो आपको उसकी प्रतिलिपि भेजूंगा। वैसे मेरे पास पिछले सालों की डायरिया हैं, उनको देखने से उनके बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, हृषिकेश, इत्यादि के जाने की तारीखें भी शायद मिल जावें।

देखने मात्र से मन पर उनसे बातचीत करने की इच्छा हुई। श्री गीता ११ अध्याय के ज्ञातुं दृष्टुं च····"के श्लोक पर उनकी व्याख्या सुनकर उनसे अपने पास रहज की प्रार्थना की, स्वीकार हुई। वह लगभग सारी सर्दियाँ (६ महीने) वहाँ रह गये। रहने की उनकी २ शरतें हमने मान लीं कि उनका नाम धाम न पूछेंगे और जब वह आना चाहेंगे हम रोकेंगे नहीं।

बातें तो उनसे सब परमार्थ की साधन सम्बन्धी ही होती थी, विज्ञान भैरव की पुस्तक उनके कहने पर मंगवा कर पढ़ी गई थी, शाम्भवी मुद्रा की भी बाते होती थी उसके बाद भी लगभग ४० साल तक कई बातें हुई, पर परम्परागत गुरु शिष्य का बताया साधन मुझे नहीं मिला। एक बार श्री गोविन्द जी मिश्र के पूछने पर बाबाजी ने कलकत्ता में कहा था, अभी समय नहीं आया। हां मेरे लड़के योगराज को उनसे दीक्षा प्राप्त हुई है। मेरी धर्म पत्नी को लिख कर एक श्लोक की माला जपने को कहा था। मेरे को लिखकर, एक बार श्री सूर्य मंत्र के जाप को कहा था। हाँ अगले जन्म के लिये उनने कहा हुआ है।

कोई विशेष बात याद नहीं आ रही वैसे अपनी धारणा यह रही कि उनके होते किसी बात की चिन्ता नहीं हाँ, एक बार ऋषिकेश में उनके कहने से "दारिद्रय दुःख भयहारिणि"····का एक बार जप करता रहा और देवी कवच के पाठ से जीवन अच्छा ही बीत गया।

बाबा की दिन चर्या थी-सुबह प्रातः ३–३०बजे उठकर प्रातः क्रिया से विवृत्त हो, ४–७ तक बन्द कमरे में पाठ-व्यायाम-७ बजे दही, बेलका मुरब्बा का नाश्ता साथ में प्रातः घी और काली मिर्च भी लेते थे। फिर सैर को जाते थे ११ बजे स्नान १२ बजे भोजन फिर थोड़ा विश्राम। खाना नमक मिर्च कम–मिर्च तो बाद में बन्द ही कर दी–दही उनको

पसंद था— खाने में मीठा थोड़ा उनको बड़ा अच्छा लगता था–मीठा ज्यादा ही लेते थे ।

बहुत लोगों की मेरे सामने बातें हुई–विशेष बात याद नहीं आ रही ।

वह बन्द कमरे में सब करते थे, शाम का पाठ सबके सामने भी करलेते थे—कुछ स्तोत्र पाठ होता था शायद पंचस्तवी हो, मैंने कभी जानने की कोशिश नहीं की । पूर्णमासी का विशेष पाठ शाम को चलता था ।

हाँ, एक बार मुम्बे में मेरे पास ठहरे थे जगह की कमी थी, स्वामी जी काफी दिन रह गये । एक दिन उनने कहा कि 'हम तो देवी के दर्शन करके ही जावेंगे' हमारे बच्चा होने वाला था, लड़की ही हुई, तब आप वहाँ से गए । इस प्रकार बाबा की भविष्य वाणी सही हुई । और कई बातें विशेष हुई-क्या-क्या लिखें ।

प्रायः यही बातें चलती थीं, जो अब तो वह पुस्तक में छप भी गई है । पिछले जनम की भी बातें होती थी । इस पर मैंने कुछ बातें पुणः मिलन में लिखी हैं । एक बार विस्तार से श्री दुर्वासा जी से प्राप्त साधन की बात बताई और कहा कि जब समय मिले इसे करना ।

वह ज्योतिष बड़ी ही अच्छी तरह जानते थे । कभी-कभी कोई अपनी मर्जी से ही बता देते थे, बहुत ठीक ही हुई ।

हाँ, जब वह क्रोध करते थे तो खूब जोर से करते थे । मैंने कई बार देखा है ।

उनकी इच्छा पर एक बार मैंने संस्कृत पढ़ना शुरू भी किया—प्रगति नहीं हो सकी ।

एक बार वर्ष प्रतिपदा के उत्सव पर उनका बौद्धिक था—वहाँ आर्य संक्रान्ति की बात चली और भी कई श्लोकों के अर्थ हुए ।

संस्कृत के प्रति उनका विशेष झुकाव था । मेरे संस्कृत न समझने पर उनको दुःख होता था । वह चाहते थे कि संस्कृत भारत में अनिवार्य होनी चाहिये ।

बाबा महाराज के प्रिय भ्रमण क्षेत्र थे-काश्मीर हिमाचल प्रदेश, पंजाब (पूरा), काशी, प्रयाग केदारखण्ड, ऋषिकेश तक ।

उनके प्रिय शिष्य—पं. गोविन्द जी मिश्र, पं. बालजिन्नाथ जी, आप लोग देहली के रतनलाल जी जैन, रामकुमार जी आदि रहे हैं ।

अन्तिम दिनों में वह प्रायः रोग में थे, स्वास्थ्य की ही बातचीत होती थी, उन दिनों आत्म विलास का नया संस्करण निकला था । मोतीबाग में पं. देशराज के मकान पर थे वहाँ ज्यादा बीमार होने पर अस्पताल ले गये । वहा से श्री रतन लाल जी के निवास स्थान पर ले गये । वहाँ ही उन्होंने शरीर त्यागा । उनकी इच्छानुसार शरीर श्री गंगाजी में प्रवाह दिया गया ।

आनन्द भवन
5. सी/ ३ एन. आई. टी. फरीदाबाद



श्री महाराज जी

—सुभाष शर्मा

पूज्य बाबा महाराज से परिचय का कोई निश्चित दिन याद नहीं है। श्री महाराज जी नालागढ़ में लगभग ४५–५० वर्षों से आते रहे । मेरे सम्बन्धियों के घरों में निवास करते रहे । हमारे अपने निजि निवास पर भी प्रायः ठहरते रहे, अतः परिचय बचपन से ही कहा जा सकता है। या यों कहिये कि इस संसार में ज्यों ही आँख खोली, महाराज जी को सामने पाया, उन्होंने अपने इंगितमात्र से सिखाया, समझाया और जब होश आने लगी, तो बिलखता छोड़ अदृश्य हो गये।

मुझे बचपन से ही महाराज ने कई साधन बतलाये परन्तु ब्राह्मण होने के नाते 'गायत्री माँ' की अराधना विशेष बतलाई।

मैंने अपने स्वभावानुसार शायद लौकिक कष्ट के लिए कभी प्रार्थना नहीं की। बचपन में कदाचित २-३ बार कष्ट आने पर उन्होंने स्वप्न में दर्शन दिये तो दूसरे ही दिन कष्ट दूर हो गया।

एक बार जब मैं लकभग २० वर्ष का था, आधी रात को दाँत में दर्द हुआ और यहाँ तक कि दर्द असह्य होने कगा। महाराज जी ने एक बार हनुमान जी के विषय में बताया था उसी के अनुसार मैं बिस्तर से उठा, कुल्ला किया, हाथ पैर धोये और हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा। पहले बैठ कर, फिर टेढे होकर फिर लेट कर उसके बाद मुझे पता ही नहीं चला कि कब दर्द हटा और कब नींद आई। प्रातः उठते ही महाराज का हृदय में ही धन्यवाद किया। फिर तो २-३ बार जीवन में ऐसा हुआ है। अन्य लोगों की रूग्णता के लिए प्रत्येक व्यक्ति को महाराज उसके अनुसार अलग-अलग साधन भजन, जप, आदि बताते थे। भगवान शिव की पूजा का प्राधान्य होता था।

अद्वैत वेदान्त पर महाराज के श्री मुख से एक बहुत ही श्रेष्ठ बात जो उन्होंने कई बार कही जिज्ञासुओं को बहुत ही सहज भाव से सरल ढ़ंग से समझाई है, मेरे हृदय पलट पर अंकित है—

स्त्रियों की वेणी एक होती है। गौर से देखने पर दो-दो दिखाई पड़ती हैं। एक दाई ओर और एक बाँई ओर, और यदि सारी वेणी खोलकर देखी जाये तो वह तीन निकलती हैं। अब वह वास्तव में क्या है ? एक है, या दो है, या तीन है। सब कुछ है, एक भी है, दो भी है, और उसी समय में तीन भी है।

परन्तु कभी हम उसे एक ही मानते हैं दो या तीन नहीं। कभी-कभी दो मान लेते हैं। यह है उसका असली स्वरूप; वह सब है।

मेरे बचपन के समय नालागढ़ में हमारे घर पर, उसके बाद जब मैं सरकारी नौकरी पर रहा, तो जहाँ मैं गया, वहाँ भी महाराज मेरे पास ठहरे हैं। उनकी दिनचर्या प्रायः सभी को विदित हैं —

आँधी हो या वर्षा या बर्फ पड़ती हो, प्रातः लगभग ३ बजे उठकर शौचादि से निवृत्त होकर

अपना साधन, योग, पाठ इत्यादि बन्द कमरे में करना, फिर ६–७ बजे प्रातः थोड़ा सा घी कुछ दवा थोड़ा सा मुरब्बा और एक कटोरी दही लेकर भ्रमण हेतु बाहर यथा-शक्ति २–३ किलोमीटर तक जाना। वापिसी में किसी बीमार या भक्त को देखना, मार्ग में अनुभव की बातें तथा लौकिक व्यवहार समझाते चलना। ऋतु अनुसार ९–१०बजे घर आकर स्नान, ११--१२ बजे भोजन, फिर थोड़ा विश्राम। १२ बजे से ४--५ बजे तक कोई आकर बैठ जाये तो सत्संग, व्यावहारिक बातें, महिलाओं को सीता बनने के उपदेश इत्यादि। फिर भ्रमण के लिए २--३ किलो मीटर जाना। (भ्रमण से पूर्व यदि श्रद्धालु कोई फल, फलों का रस, शर्बत आदि पिलाना चाहे तो ठीक, वरना उनके लिए कोई विशेष आवश्यक नहीं होता था। वह व्यक्ति विशेष की श्रद्धा तथा उसकी सामर्थ्य का विशेष ध्यान रखते थे।) भ्रमण के प्रश्चात् सायंकालीन सन्ध्या, १० बजे तक बातचीत, बच्चों से व भक्तों से। उसके उपरान्त गाय का दूध लेकर, सबको जयशंकर (विदा) कह कर, कमरा साफ़ करवा कर द्वार बन्द कर सो जाते थे। (भिन्न-भिन्न स्थानों पर यह भिन्न भी हो सकते हैं।)

बहुत से प्रश्न व महाराज के उत्तर याद हैं परन्तु थोड़े में लिखने से आनन्द नहीं आयेगा और ना ही पूरा हो सकेगा। अतः यदि उनकी इच्छा हुई तो समय-समय पर लिखता रहूँगा।

महाराज ने मना कर रखा था, अतः हमने बन्द कमरे में छुप कर देखने का दुस्साहस ही नहीं किया इस विषय में हमारे घर में एक घटना भी घट चुकी थी अतः इस लिए भी, महाराज को नाराज़ करना, मैंने कभी ठीक नहीं समझा। वह घटना इस प्रकार थी—

पिताजी की आयु उस समय छोटी ही थी। महाराज जी हमारे ताया जी (पं. सन्तराम जी) के घर ठहरे हुए थे। महाराज जी सबको मना करते ही थे, कि बन्द द्वार में आँख लगाकर नहीं देखना। सुना है पिता जी बचपन में चंचल स्वभाव के थे। ज्योंही महाराज जी ने द्वार बन्द कर योग करना प्रारम्भ किया, पिता जी ने झिरी में से सारी क्रियाएँ देखनी शुरु कर दी। कुछ इन्होंने पढ़ रखा था और कुछ देख लिया, और इनकी भी इच्छा हुई, महाराज जी की तरह करने की।

महाराज जी जब अपनी पाठादिचर्या से निवृत्त हुए; दही इत्यादि लिया, फिर कहीं जाने के लिए तैयार हो गए; शायद सोहाणा या बहरामपुर आदि जाना था। ताया जी तथा अन्य भक्तगण बस अड्डे पर छोड़ने गये। उन दिनों नालागढ से रोपड़ के लिए ३-४ बसें ही जाती थीं। नालागढ़ से २३ किलो मीटर दूर इस नगर के लिए घंटाभर समय लगता था।

ताया जी ने घर आकर देखा, तो शोर मचा हुआ। पिताजी ने कमरा बन्द कर रखा था। दरवाजा तोड़ कर देखा, तो श्वास नहीं, वैद्य को बुलाया, झाड-फूँक करने वाले को भी बुलाया, कुछ न बना और ना बात ही समझ में आई। उधर महाराज जी ज्योंही रोपड़ बस से उतरे, उनको न जाने क्या ख्याल आया, दूसरी बस से वापिस नालागढ़ आ गये, सभी लोग आश्चर्य कर रहे थे। महाराज जी सीधे ताया जी के घर गये, कमरा अन्दर से बन्द किया, फिर ना जाने कौनसी क्रिया की कि पिता जी ठीक होने लगे। पूर्ण स्वस्थ होने पर उन्होंने सारी बात पिता जी से पूछी और भविष्य में ऐसा ना करने के लिए कहा।

महाराज जी वर्षों से हमारे यहाँ आते रहे हैं घटनाएँ भी होती ही रहती थीं। कुछ तो हमें बच्चे होने के कारण समझ नहीं आई। कुछेक याद भी हैं तो वह लम्बी कहानियाँ हैं।

महाराज ने कई अलौकिक संस्मरण सुनाये भी हैं वह सभी धीरे-धीरे लिखता रहूँगा। श्री आत्म विलास की रचना यहाँ हुई। "प्रभो शम्भो" का सिद्धमन्त्र रचकर "सनातन धर्म सभा भवन" नालागढ़ का भाग्योदय किया। कालका के पं. भगवती प्रसाद जी के साथ "गंगामाता" के दर्शन कुल्लु में, श्मशान में भगवान् आशुतोष के कमण्डलु से जल ग्रहण इत्यादि लिखा हुआ भी है, जो हमें उन्होंने स्वयं सुनाया है।

—नालागढ़ (हि० प्र०)

आचार्य चरणों की कुछ झलकियाँ

—डा. भवानी शंकर त्रिवेदी

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो यः पदवाक्य प्रमाणवित् ।
सिद्धविद्याधरो योगी शिवः साक्षात् कवीश्वरः ।१।
सर्वोपकारनिरत आचार्योऽमृतवग्भवः ।
पूज्यपादाय गुरवे तस्मै नित्य नुमां वयम् ।२।

आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व श्रीमहाराजजी के दिव्य गौरवर्णविभासित अनङ्ग सुन्दर नव-यौवनविमाविकस्वर देबोपम दिव्यदर्शन पा कर यह जनठगा सा रह गया था । श्रीमहाराजजी के चरण कमलों की पावन छवि पहली बार निहार कर ही मैं कृतकृत्य हो गया था । क्योंकि तब से लेकर आज तक मैं जो कुछ भी बन पाया या कर पाया हूँ वह सब श्रीमहाराजजी के चरणों का ही प्रताप है ।

श्री महाराजजी से मैंने न तो कभी किसी साधना विशेष की जिज्ञासा ही की और न उन्होंने बताई ही, किन्तु स्वप्रकाशित पञ्चस्तवी उन्होंने अपने कर कमलों से मुझे प्रदान की थी । मैं प्रति दिन उसका पाठ करने लगा और उसका सुफल भी हाथों-हाथ मिलने लगा ।

संकट की घड़ी में श्री महाराज जी स्वयं ही पधार जाते, और कहते कि मुझे कुछ ऐसा लगा कि कुछ गड़बड़ है, और मैं आ गया । महाराज जी के पधारते ही सब संकट धीरे-धीरे टल जाता ।

उनकी बात चीत से यह स्पष्ट हो जाता था कि वे तथाकाथित वेदान्त के अद्वैतमायावाद को नहीं मानते थे । साथ ही बहुत पहले ही श्री महाराज जी ने इस जन को 'आत्म विलास' के मुद्रण के समय उसके प्रूफ पढ़ने में अपना सहायक बनाने की कृपा की थी और एक प्रकार से श्री गुरु मुख से आत्म विलास के पारायण का सौभाग्य मुझे बहुत पहले ही मिल गया था ।

पहले अमृतसर में और फिर दिल्ली आने पर यहाँ भी मेरे निवास पर श्री महाराज जी कई बार कई-कई दिनों तक विराजने की कृपा करते रहे । उनके आहार विहार सम्बन्धी मुख्य विशेषताएं ये थी--

(१) आरम्भिक दिनों में बिना नमक की दाल या शाक-सब्जी ही लिया करते थे, उनका भोजन सादा और सात्विक होता था, भोजन में दही व मुरब्बा या खीर आदि कोई मीठी वस्तु हो तो बहुत अच्छा । उन्हे दो-दो बार विष पहले मीठा तेलिया और फिर संखिया दे दिया गया था । उस समय तो यौगिक क्रिया तथा मन्त्रौषधादि द्वारा उसके विनाशक प्रभाव का शमन कर दिया गया

किन्तु उसके परिणाम स्वरूप उन्हें बवासीर और भगन्दर जैसे असाध्य व महाकष्ट दायक रोगों ने जकड़ लिया उसके उपशमन के लिए वे प्रातः दो ढ़ाई तोला शुद्ध घृत तथा उसमें भुनी हुई १५–२० काली मिर्च प्रातः प्रति दिन लिया करते थे और रात्रि को गाय का दूध लेते थे। भोजन वे आरम्भ से ही एक ही समय किया करते थे।

उनके भोजन करने का स्थान तथा पाट आदि शुद्ध स्वच्छ व पवित्र होने चाहिए। इसी प्रकार रसोई घर बर्तन आदि साफ सुथरे व स्थच्छ पवित्र होने आवश्यक थे। गाजर शलगम, तुरई, तथा घिया आदि की सब्ब्जियाँ उनके अनुकूल पड़ती थीं। इधर कुछ वर्षों से वे इसके साथ बेल का मुरब्बा भी लेने लगे थे।

भोजन से पूर्व वे शास्त्रीय विधि से ग्रास निकालते और पहले प्राणों की आहूति रूप पांच ग्रास लेते तथा भोजन मौन रहकर ही किया करते थे। भोजन करते समय वे जल नहीं पीते थे। जल वे भोजन के आधा घण्टा बाद पिया करते थे।

वे भक्त गणों की नानाविध शंकाओ और प्रश्नों का समाधान तत्काल शास्त्रानुसार कर दिया करते थे। एक बार मैंने जिज्ञासा की कि अनेक ऐसे ब्राह्मणेतर विद्वान् वेदवेदाङ्गों के पारंगत हैं उनके मन वचन और सभी कुछ ब्राह्मणों के जैसे ही है, जैसे वासुदेव शरण अग्रवाल आदि तो क्या उन्हें ब्राह्मण मान सकते हैं।

श्री महाराज जी का दोटूक उत्तर था हाँ उन्हें ब्राह्मण माना जा सकता है पर कर्म में उन्हें अधिकार नहीं है। अर्थात् कोई चाहे कि श्राद्ध भोजन भी उन्हें ही करा दे तो नहीं चलेगा। ऐसे ही अन्य ब्राह्मण कर्मों के कराने के अधिकारी नहीं है।

पहले नवरात्र में श्री महाराज जी दुर्गासप्तशती की कथा और उसके आद्यन्त में 'कालविनाशिनी काली जय जय, दुर्गतिनाशिनी दुर्गे जय जय, आदि स्तुति से हारमोनियम बजाते हुए कीर्तन किया करते थे और श्रोताओं से भी करवाते थे। मुझे और मेरी पत्नी को आज भी उक्त पंक्तियाँ दुहराते हुए ऐसा लगता है जैसे श्री महाराज जी स्वयं सामने विराजे हुए हैं। इस प्रकार इस जन को महाराज के श्री मुख से दुर्गा सप्तशती की कथा के रूप में उसके राष्ट्रीयतापरक एवं आध्यात्मिक भावना भरी व्याख्या सुनने का सौभाग्य प्राप्त करने का सुअवसर भी मिला है।

मेरे जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण अवसर श्री महारज जी की उपस्थिति से पावन एवं गौरवान्वित होते रहे है। सर्वप्रथम सन् 1937 में सम्पन्न मेरे विवाह में श्री महाराज जी मेरे ससुराल शाहपुरा व पितृ भूमि रायपुर आदि पधारे। इसी समारोह में मेरे श्वसुर जी (श्री बाबू मदन लाल जी) के द्वारा सादर भेंट किया गया सरापा भी बड़े प्रेम से उन्होंने बाँधा था। केसरिया साफा बाँधे श्री महाराज जी के उस गौर सुन्दर भव्य रूप को निहारकर सब शाहपुरा वासी ठगे रह गये। संस्कृत में पद्यवद्ध तथा हिन्दी में आमने-सामने छपे मेरे विवाह के निमंत्रण पत्र के सुललित पद्यों की रचना श्री महाराज जी ने की थी। इससे पूर्व कुराली में संपन्न मेरे वाग्दान की विधि भी श्री महाराज जी के ही सन्निध्य में संपन्न हुई थी।

देहली में मेरे वर्तमान आवास का प्रवेश मुहूर्त भी महाराज जी के प्रमुख निष्ठावान शिष्य

भरतपुर निवासी श्री. पण्डित गोविन्द जी मिश्र ने शास्त्रोक्त विधि से श्री महाराज जी के तत्वावधान में ही संपन्न करवाया था। आगे चलकर चिरंजीव 'रवि शर्मा आदि मेरे पुत्रों व पुत्री सौ. वंदना के विवाह एवं वाग्दानादि के अवसरों पर भी श्री महाराज जी प्रायः विराजमान रहते थे।

ऐसे स्वागत समारोह में राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह जी दिनकर जैसे अनेक प्रतिष्ठित महानुभाव श्री महाराज को अपने मध्य पाकर अपने आपको सौभाग्यशाली मानते थे।

श्री महाराज जी अनायास ही अनेक सुललित सुलेखों की रचना तत्काल कर दिया करते थे। अमृतसर में मैं जिन प्रज्ञा–चक्षु पण्डित हरिभानुदत्त जी शास्त्री के पास रहता था उनके लिये बनाया गया ऐसा ही एक श्लोक देखिए—

शाटीं जीर्णतमां गवाक्षशतकैर्युक्तां मलेनावृताम्,
सानन्दं परिधाय यून्कृतिपटुर्यष्टीं गृहीत्वा करे।
देवी शम्मु निकाय्ययो रतरहर्मध्ये भ्रमन्सर्वदा,
आलस्याधिपतिर्भनान्विजयतां श्री भानुदत्तः सुधी।

किसी कृति विशेष की तो नहीं अपितु 'कालिदास के काव्यों में चर्चित बृहत्तर भारत के भौगोलिक तत्त्व' शीर्षक मेरे शोध प्रबन्ध के लिये प्रार्थना करने पर तत्काल बना कर दिया गया आशीर्वादात्मक कालिदासाष्टक, (अप्रकाशित) मेरे पास है। इसका प्रथम पद्य देखिये—

मन्दाक्रान्तां सुललितपदां चारुवर्णां सुवृत्ताम्
कृत्वा कान्तां कविवरपदे प्राप कीर्ति समृद्धाम्।
काव्यश्रेष्ठं भरतभुवि यो पुत्रवान्मेघदूतम्—
निर्मायाद्यं ननु विजयते कालिदासः कवीन्द्रः।

श्री महाराज जी अपने रोमाञ्चक अलौकिक संस्मरण प्रायः सुनाते ही रहते थे। इनमें से अनेक की चर्चा उन्होंने 'श्रीसिद्ध महा रहस्यम्' नामक अपनी कृति में की है। उनसे भिन्न कुछ संस्मरण ये हैं—

(१) पानी पर चलना—

एक बार श्री महाराज जी किसी 'हतो' (काश्मीरी श्रमजीवी या कृषक मुस्लमान) के साथ काश्मीर मैं कहीं पैदल ही जा रहे थे। मार्ग में लीदर नदी को देखकर उन्होंने उसे पूछा कि मैं तो कपड़े उतार कर उनकी गठड़ी सिर पर धर कर कौपीन लगाए हुए तैरकर नदी पार कर जाऊँगा, तुम कैसे करोगे ?

हतो—मैं तुर (चल) कर पार कर जांदी।

और यह कहकर वह पानी पर छप छप चलता हुआ नदी पार कर गया। महाराज जी के आवाज देकर बुलाने पर वह वापस भी आ गया। महाराज जी के पानी के चलने के चमत्कार के बारे में पूछने पर उसने कहा—'कुछ नहीं ये तो हुनर है हुनर'।

तब उन्होंने कहा कि यदि हुनर है तो यह हुनर मुझे भी सिखादो न ? हतो बोला—अब तो देर हो गई है, सुबह सिखादें दी । इसके बाद दोनों वहीं एक झोपड़े में सो गए । श्री महाराज जी रात भर जागते रहे, पर प्रातः ३-४ बजे २-३ मिनट के लिये उनकी पलक झपक गई और उसी समय वह हतो गायब हो गया । बाद में ज्ञान हुआ कि आचार्य अभिनवगुप्तपाद और उनके अनेक शिष्य चिरंजीवी हैं । वे सिद्ध पुरुष वेश बदल कर यत्रयत्र विचरण करते रहते हैं । वह उन्हीं में से कोई एक रहा होगा ।

प्रेत की मुक्ति—नाहन (या किसी अन्य पहाड़ी रियासत) के राजमहल में श्री महाराज जी रात्रि में विश्राम कर रहे थे कि उनके चंद्रिका धवल कक्ष में कोई व्यक्ति आकर कहने लगा कि महाराज जी मेरा उद्धार कर दीजिए । प्रातः उसका हुलिया बताकर पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि वह पचास-साठ वर्ष पूर्व अपमृत्यु से मरा कोई व्यक्ति था । महाराज जी ने उसके वंशजों से गया श्राद्धादि करवाकर उसे प्रेत योनि से मुक्त करवा दिया ।

श्री महाराज जी अपने आरम्भिक जीवन के अनेक संस्मरण सुनाया करते थे । जैसे—

(i) **अरणि–मन्थन से यज्ञाग्नि प्रकट करना—**

कहीं अरणि-मन्थन के द्वारा यज्ञाग्नि प्रकट करने का उपक्रम हो रहा था पर अग्नि प्रकट नहीं हो पा रही थी, ऐसे में किसी को श्री महाराज जी (उस समय वे किशोर ही थे) का ध्यान आया और उनके मन्थन करते ही अग्नि तत्काल प्रकट हो गई ।

(ii) **डा. मंगलदेव से उलझ गए—**

उन दिनों श्री महाराज जी (उनका पूर्व नाम वैद्यनाथ था) 'गवर्मेंट संस्कृत कॉलिज बनारस, के ग्रंथालय में शोधादि कार्य पर नियुक्त थे । ग्रंथालयाध्यक्ष थे डा. मंगलदेव शास्त्री । एक बार उन्होंने श्री महाराज जी के लेख को अशुद्ध बताया तब महाराज जी अड़ गए कि मैने जो लिखा है वही ठीक है । तब कॉलिज के प्रिंसिपल महामहोपाध्याय गोपी नाथ जी कविराज ने डा. साहिब को समझाया कि इनका अध्ययन बहुत ठोस है, आप इनसे न उलझा करें । और उसके बाद सब ठीक-ठीक चलता रहा ।

(iii) **शूद्रों को कूएँ पर पानी भरने का अधिकार :**—उन दिनों शूद्रों को कूएँ से पानी भरने दिया जाये या नहीं इस विषय पर विद्वानों में शास्त्रार्थ होते रहते थे । एक बार पानी भरने देने के पक्षधर विद्वानों का पक्ष कुछ कमज़ोर पड़ते देख श्री महाराज जी ने पाणिनि के—

"शूद्राणामनिर्वासितानाम्"

इस सूत्र तथा अन्यान्य शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर दृढ़तापूर्वक यह सिद्ध कर दिखाया कि शूद्रों को कूँओं से जल भरने देने का अधिकार देने में कोई शास्त्र विरोध नहीं है !

इस पर सभा में उपस्थित महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा अन्य अनेक विद्या वयोवृद्ध विख्यात विद्वानों ने श्री महाराज जी की पीठ ठोकी और कहा कि हाँ अपने पक्ष का समर्थन इसी प्रकार किया जाना चाहिए ।

गांधीजी से प्रश्नोत्तर :—

एक बार श्री महाराज जी ने महात्मा गाँधी जी से पूछा कि आपके अस्पृश्यता सम्बन्धी विचारों का शास्त्रीय आधार क्या है ?

गाँधी जी—'शास्त्र तो हूँ जाणू नत्थी ।'

अनेक जाने-माने ज्योतिर्विद् विद्वान श्री महाराज जी से तत्तद विषयों पर प्रायः चर्चा करते ही रहते थे, इससे स्पष्ट है कि श्री महाराज जी का ज्योतिष पर भी पूर्ण अधिकार था ।

श्री महाराज जी सदा प्रसन्नचित्त ही रहते थे तथापि यदा-कदा उन्हें क्रोध भी आ जाता था । यह क्रोध भी दो प्रकार का होता था । प्रथम यह कि लोगों को विशेषतः बड़े-बड़े नेताओं को धर्म के विरुद्ध जब वे कुछ करते या कहते, देखते-सुनते तो उन्हें बड़ा क्रोध आता था । वास्तव में महाराज जी का स्वभाव राजाओं जैसा था । (और वे पिछले जन्म में राजा थे ही) ।

अतः कहीं भी, कोई भी बात या काम सुरुचि, सफाई, शुद्धता, पवित्रता या नफ़ासत के साथ नहीं देखते तो उन्हें क्रोध आ जाता था । उनकी प्रत्येक वस्तु यथा-स्थान और व्यवस्थित रहनी ही चाहिए थी । अव्यवस्थितता से उन्हें बड़ी उकताहट होती थी ।

दूसरे प्रकार का क्रोध—

महाराज जी के जिन शिष्यों या भक्तों ने उनके साथ विश्वासघात या जान बूझकर कोई अनुचित व्यवहार किया तो महाराज जी का उन पर क्रोध आना स्वाभाविक था । और ऐसे लोग यदि उनके सामने आ भी जाते थे तो उनकी ओर से मुँह फेर लिया करते थे ।

'कृतघ्नानां दुःशासननिपतितानामविदुषाम्
नृणामीक्षामात्राद्विवलयति धाढां कुधिषणाम् ।

जैसे अनेक श्लोकों में उन्हें बहुत दुखी होकर ही ऐसे लोगों को कृतघ्न अज्ञ और कुधिषण दुर्बुद्धि आदि कहना पड़ा था ।

अन्तिम दर्शनों के समय श्री पं. दुर्गादत्तजी मेरे निकट ही बैठे थे और अन्तिमवार उन्होंने श्री महाराज जी को गंगा जल दिया था । लगभग एक माह से वे गंगाजल ही ग्रहण कर रहे थे ।

विनोद शील महाराज जी—

श्री महाराज जी की बातचीत में शिष्टहास परिहास का पुट प्रायः रहता ही था और वे बीच-बीच में चुटकले भी सुनाया करते थे । उन्होंने बहुत पहले एक चुटकला यह सुनाया था—

(1) एक बार किसी काजीजी का कोई शागिर्द बोला—'खाजी जी, खाजीजी, खलमदान ये बैठो खव्वो खांव खांब कर रह्यो है'

इस पर काजी जी बोले—घत्ते रे कि, एक भी 'काफ़' नही लगाया ।

तब शागिर्द बोला—'रव्या कूब !'

पांचवां स्नान—

उन दिनों सर्दियों में मुझे योगदर्शन और सांख्यतत्त्व कौमुदी पढ़ाने के लिये श्री महाराजजी अमृतसर में नगर से बाहर रामतलाई में विराज रहे थे और १०-११ बजे तलाई में ही स्नान किया करते थे। इससे पहले यदि कोई पूछ लेता कि महाराज जी, स्नान हो गया ? तो महाराज जी मुस्कराते हुए कहते—'१ आकाश स्नान २ वायु स्नान ३ सूर्य स्नान और तैल स्नान (मालिश) ये चार स्नान तो हो गए हैं, बस अब एक और छोटा सा स्नान जल स्नान रह गया है, सो भी हो जायगा। श्री महाराज जी के इन पांच स्नानों का स्मरण आने पर आज चित्त प्रफुल्लित हो जाता है।

एक नया चेला—

श्री महाराज जी अपने किसी भक्त पर अनुकम्पावश उसके १५-१६ वर्ष के पुत्र को अपने साथ ले आए थे। अमृतसर की कड़कती हड्डियों तक को ठिठरा देने वाली भयंकर सर्दी में उसे स्नान करने के लिये कहा जाता तो वह रोने और कांपने लगता। खाना भी बहुत मनाने पर ही खाता और दिन भर गुमसुम बैठा रहता। एक दिन महाराज जी ने कहा, शास्त्री जी, इस पर कुछ श्लोक बना डालो। मैंने दो तीन दिन के प्रयत्न के बाद एक श्लोक के निम्न तीन पद बना कर सुनाए—

कञ्चिद् विप्रबटुं दुराग्रहपटुं नाम्ना जगन्नाथकम्
स्नानाज्ञाश्रवणेन भीत हृदयं वाष्पाकुलं मौनिनम्।
आनन्देतिसमा ह्वयो गुरुवर आदाय शिष्यं नवम्।

और मैंने निवेदन किया कि महाराज, चौथा पद नहीं बन पा रहा है, क्योंकि मैं उसमें 'कारक दीपक' अलंकार के द्वारा यह दिखाना चाहता हूँ कि श्री महाराज जी कभी तो उसे डाटते डपटते हैं कभी मनाते है, कभी समझाते बुझाते है और जब वह भागना चाहता है तो उसे पकड़ने दौड़ते है और अन्त में दुःखी होकर रह जाते है। कि मैं किस बला को ले आया। और मेरे पास पद केवल एक बच गया है। इस एक पद में ये ढेर सारी क्रियाएँ ठूसी नहीं जा रही।

यह सुनकर श्री महाराज जी ने तत्काल यह चतुर्थ पद बोल दिया—

'रुन्धे बोधयते च भाययति च प्रीणाति चेश्विद्यते।'

और इसके साथ ही उन्होंने स्वयं भी तत्काल उसका शब्दचित्र इस श्लोक में खींच दिया—

जगन्नाथं शिष्यं कमपि समरालावसति तो
गृहीत्वा मौनाढयं सजलनयनं सद्द्विज वटुम्।
...(विस्मृत हो गया)
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाण पदवीम्।।

स्पष्ट है कि श्री महाराज जी का श्लोक सरस काव्यात्मक है कि मेरा श्लोक जोड़ तोड़ मात्र।

यहाँ यह बताना भी अप्रासंगिक न होगा कि श्री महाराज जी सदैव प्रति दिन डायरी लिखा करते थे और उसमें अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों के स्वभाव, कार्य व्यापार एवं गुणावगुणों की चर्चा भी रहती थी। इसी लिये अपना 'थैला' कभी किसी को खोलने नहीं देते थे और इसी

कारण दुर्जनों ने यह समझ कर कि अवश्य इस थैले में कोई दुर्लभ बहुमूल्य द्रव्य होगा, उसे हथियाने के उद्देश्य से ही श्री महाराज जी को दो-दो बार विष दे दिया था। अस्तु।

श्री महाराज जी के सुमधुर कोकिलकण्ठ से निसृत सुधोपम सरस वाणी से सुललितलययुक्त श्लोक पाठ सुनने का जिन्हें सुअवसर मिला है, वे ही उनकी स्वर माधुरी की अनुपम रमणीयता का अनुभव कर सकते हैं। श्री महाराज जी के श्लोक पाठ को सुनकर सहृदयश्रोता तन्मय हो जाया करते थे। एक दिन सायं भ्रमण के समय झूमती हुई आम्रमंजरी को देखकर उन्होंने यह अन्योक्ति सुनाई थी—

परिश्रान्तो दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्,
तदेकां त्वद्गेहे तरुणि परिणेष्यामि रजनीम्।
समीरेणोक्तं वं नवकुसुमिता चूतकलिका
धुनाना मूर्धानं नहि नहि नहीत्येव कुरुते।।

इससे स्पष्ट है कि श्री महाराज जी मा शुष्क वैयाकरण, या दार्शनिक ही नहीं सरस कवि भी थे और शृंगाररस भी उन्हे उतना ही प्रिय था। इतना ही नहीं, काव्य प्रकाश के रस विवेचन परक चतुर्थ समुल्लास के लिये तौ वे कहा करते थे कि इसका सम्यग्ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति को आत्म साक्षात्कार भी हो सकता है। अस्तु

त्वदीयं श्रीगुरो वंस्तु तुभ्यमेव समर्पये।

जी—१८ बिलशाब कालोनी
शाहदरा—दिल्ली—३२

❀ निवेदनम् ❀

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

उपादाय भ्रष्टैरपि वृहदुपायैर्जनमता····
न्यलंमानाः सभ्याः सदसि समिता राष्ट्र भरणे ।
दुरन्तै रुत्कोचैर्निशि निशि भरन्तो निजगृहम्
जनानां कल्याणान्यहह ! कवयन्ते दिशि दिशि ॥१॥
युवानो वृद्धा वा सदसि विदधानाः प्रतिदिनं
जना ऽऽ शंसा मत्वा तृणमिव नवान्नीतिनियमान्,
अशक्तान् पिंषन्तो ऽप्यवन भवने र्जानत इमे
वुभुक्षा ऽऽ श्लिष्टाना मति रविनयानेव सृजति -,२,,

श्री स्वाध्याय सं. २०११
व. १४ सं. २

पूज्यपाद ब्रह्मर्षि

—डॉ० कृष्ण देव कपिल

प्रभु प्राप्ति से जो आनन्द मिलता है, उससे भी कहीं अधिक प्रभु गुण-गान और अपने भगवान की लीलाओं का ध्यान और स्मरण करने में होता है। ठीक इसी तरह महापुरुषों के चरित का स्मरण करने से आनन्द प्राप्त होता है। कहते है ब्रह्माण्ड में, समष्टि में व्याप्त तद्रूप अणु ध्यान-कर्त्ता की ओर आकर्षित होने लगते है और धीरे-धीरे प्रवेश भी करने लगते हैं।

ऐसे महापुरुषों में एक पूज्यपाद ब्रह्मर्षि श्री अमृतवाग्भवाचार्यजी महाराज थे जो महान विद्वान ही नहीं, कितने ही शास्त्रों के रचयिता थे। आप अद्वैत वेदांत एवं शाक्त मत के अनुभवी संत थे। उनका आत्म विलास ग्रंथ तो साक्षात् प्रभु–दर्शन है। श्री महाराज जी बड़े ही विचारशील एवं मनन शील थे। मनुस्मृति में आपकी आस्था थी। वह सदा शास्त्र मर्यादानुसार जीवन यापन का उपदेश देते थे। आप भाषा, इतिहास और भूगोल के भी तत्वान्वेषी थे। राजनीति में भी थोड़ी रुचि लेते थे। मानों उनका कहना था कि हमें सचेत एवं सतर्क रहना चाहिए।

नालागढ़ में प्रायः वह आते रहते थे। पं० संतराम जी और पं० हरिराम जी के घर विशेष कर। नालागढ़ में घर-घर में आपका परिचय था। मुझे 'आत्म विलास' की प्रति पं० संतराम जी से ही मिली थी, अब तो प्रो० पं० बल्लजिन्नाथ जी ने पुनः छपवा दी, उस समय दुर्लभ थी। मैं श्री महाराज जी के दर्शन करने नालागढ़ आता तो सायं के भ्रमण में भी सायं जाने का अवसर मिलता आप हर समय शास्त्रों की ही चर्चा करते।

आपका कद छोटा, खुली दाढ़ी रखते, बाल रखते थे, आपके शरीर में भारी चमक थी। ललाट पर अनुपम तेज था, आंखों में तो इतना तेज था कि एक ज्योति सी जलती दीखती। साधारण व्यक्ति आपसे आँख नहीं मिला सकता, एक बार मुझे सोहाना में आपके ऐसे रूप का दर्शन हुआ जिसकी स्मृति आज तक भी आनन्द दे रही है। वह तो विशेष लीला ही होगी। क्योंकि उसके थोड़े समय बाद आप व्यष्टि से समष्टि में प्रवेश कर गए। सोहाना ग्राम चण्डीगढ़ के समीप है। वहां आपके विशेष भक्त पं० जट्टाशंकर जी हैं, जो जन्म दिन मनाने के बहाने आपको बुलाया करते थे।

इस बहाने दूर-दूर से आपके शिष्य लोग पहुंचते और हमें भी उनके दर्शन हो जाते।

नालागढ़ के समीप राजपुरा ग्राम में एक श्रद्धालु जो दर्जी का काम करते थे उन पर आपकी कृपा विशेष हुई। वह आपके भावों की विशेष पकड़ करने लगे। उनका नाम दास था। उनकी उर्दू में 'आत्म लहर' नाम से छोटी सी पुस्तक भी छपी है। वास्तव में महाराज जी के दर्शन को समझने की क्षमता मुझे दास जी के साथ वार्तालाप करने के बाद ही प्राप्त हुई। जिससे मेरी

आस्था, निष्ठा श्री चरणों में बढ़ती ही गई। श्रद्धा तो पहले थी किन्तु जो आनन्द आपके उपदेशों का भाव जानने पर आने लगा, अवर्णनीय है। वास्तव में साधारण व्यक्ति आपके भावों को जल्दी पकड़ भी न सकता, क्योंकि आप की शैली और अभिव्यक्ति बड़ी ही साहित्यिक थी। और निगूढ़ रहस्यों को आप अनधिकारियों में बांटने के हक में भी न थे, जैसा कि भगवान कृष्ण ने भी आदेश दिया कि गीता ज्ञान केवल अधिकारी लोगों को ही सुनाने से लाभ है।

कालका नगर में काली मन्दिर है। यह एक शक्ति पीठ है। आप यहां भी प्रायः आते थे। जब भी आते पं० भगवती प्रसाद जी जो ज्योतिष का कार्य करते हैं उनके पास ही ठहरते। उनकी धर्मपत्नी आपके खान पान की सुचारु व्यवस्था करतीं। गाय का दूध पीना, हरड़ गाजर आदि का मुरब्बा लेना आपका नियम था। एक बार कहते थे कि आप लोग इतनी जल्दी सब उपदेश क्यों भूल जाते हैं? हमें सभी शास्त्र याद रहते हैं। यह सब अखण्ड ब्रह्मचर्य, संयमित जीवन और सदा विचारशील वृत्ति का परिणाम है। गृहस्थी लोगों को भी शरीर को स्वस्थ रखने की ओर ध्यान देना चाहिए। शुद्ध आहार, संयमित जीवन यापन में आनन्द है।

श्री महाराज जी कालका पहूंचते ही अपने सत्संगियों, श्रद्धालुओं को तुरंत सूचना देते। सीता राम जैन (जो शरीर छोड़ चूके है) जे० एन० धीर, बाबू गिरधारी लाल, अमृत प्रकाश 'लाट', ला० सत्य प्रकाश एवं सरदार चानन सिंह तो थे ही, मुझे विशेष कर सूचना देते थे—हम जो प्रसाद आपको चढ़ाने हेतु लेकर जाते, तुरंत सभी में बाँटते जाते और खाली लिफाफे फोल्ड करके एक तरफ रख देते।

सत्संग चालू रहता। बीच-बीच में किसी-किसी का कुशल क्षेम पूछते रहना और देश में हो रही उथल-पुथल की चर्चा का प्रसंग भी चलता रहता। किन्तु मुख्य बात रहती कि आप कल प्रातः ही जा रहे है—इससे सभी श्रद्धालुओं को उदासी सी लगने लगती, कि महाराज इतनी जल्दी क्यों जा रहे हैं।

श्री महाराज जी जहाँ तंत्र, और शाक्त अद्वैतवाद के अनुभवी संत थे। वहां ज्योतिष के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। जिस पर दया हो जाती उसकी जन्म पत्री पढ़ देते और पं० भगवती प्रसाद जी से ग्रहों का फलादेश डिसकस भी करते। मुझ पर भी एक बार ऐसी कृपा हुई थी। आप मेरे पर तो वैसे भी बड़े दयालु थे। भले ही मैं श्री चरणों में अधिक न रह पाया और किसी प्रकार की सेवा न कर पाया। आप मुझे सदा सामाजिक सेवा में, धार्मिक एवं सच्ची भावना से लगे रहने का आशीर्वाद देते थे।

आपका सोलन जो बघाट स्टेट कही जाती थी में भी काफी समय व्यतीत हुआ है। वहां आप ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध रहे है। आपके आवास का प्रबंध बघाट नरेश की ओर से होता था। यहाँ से 'श्री स्वाध्याय' नाम से पत्रिका भी निकालते रहे। जिसके प्रमुख सम्पादक रहे पं० हरदेव शर्मा जी, जो पंचांङ्गकार भी है अब वह उस पत्रिका को 'ज्योतिष्मति' के नाम से निकालते हैं।

१९५७ में मैं सोलन में था। आप मेरी कुटिया में एक रात्रि ठहरे। १९८२-८३ में आप श्री सुभाष के पास सोलन में ठहरे तो मैंने उन्हें 'ब्राह्मण सभा' की बैठक में आमन्त्रित किया। सम्भवतः यह पहला अवसर था कि किसी बैठक में आपने भाग लिया। क्योंकि वह भाषण आदि न देकर केवल उपदेश व सत्संग चर्चा में ही विश्वास रखते थे।

आपने ब्राह्मणों को शुद्ध वर्ण और रक्त की रक्षा हेतु प्रेरित किया। आपने कहा कि वन में सिंह अकेला ही होता है, ब्राह्मणों को आत्मविश्वास होना चाहिए, और अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होना होगा।

श्री महाराज जी को भ्रमण में बड़ी ही रुचि थी। देहली भरतपुर आदि तो जाते ही थे किन्तु काश्मीर भ्रमण और हिमाचल में कुल्लु जिला में नरमुण्ड जो भगवान परशुराम जी की बसाई नगरी है, भी विशेष रूप से गए। आपने 'परशुराम स्तोत्र' की रचना भी की। आपको भगवान परशुराम का साक्षात्कार भी हुआ। एक बार कथा आपने सुनाई थी।

आपके जन्म दिन पर कीर्तन उपदेश और भण्डारे का आयोजन नालागढ़ और सोहाना में हुआ करता था जो परम्परा आज भी चल रही है। खीर पुए का भोग विशेषकर लगाया जाता था। इस अवसर पर भक्त-जन एकत्रित होते शिष्यजन पूजा करते। श्री महाराज जी बड़े ही सहृदय उदार चित्त और दयालु थे किन्तु गुरु-मन्त्र अधिकारी को ही देते। तो भी श्रद्धालु लोग उन्हें अपना गुरु मानते और आप की कृपा के पात्र बन जाते। आज भी उनके द्वारा रचे शास्त्रों का अध्ययन करने, उनके भावों को समझने से, ऐसा भासता है कि मानों एक शक्ति हम में प्रवेश कर रही है। क्योंकि वह एक व्यावहारिकता में विश्वास रखने वाले, बहुमुखी प्रतिभाशाली महापुरुष थे।

२३६—सोमनिवास कालका
(हरियाणा)

निवेदन

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

जरन्तः स्वच्छन्दं जन धन मिमे नेतृ चरणाः
स्वराष्ट्रं सेवाभिः सपदि सुखयामो व्यमिति।
विडालानां वृत्ति कुधजन विगीतां कपटिनां
श्रयन्ते चेद्राष्ट्रं प्रलयगिलितं हन्त ! सकलम् ॥१॥
इमे शिक्षा दीक्षां विशद तनु लोकैक कलिता—
मपूर्वां सम्प्राप्ता वरगुरु गिरो गौर गुरवः
पटैः श्वेतैः श्यामां तनुमतिशमावृत्य शमहो।
स्वराष्ट्रस्येदानीं किमपि कलयन्ते परभृताः ॥२॥

श्री स्वाध्याय सं० २०११
वर्ष १४ सं० ३

आचार्य श्री अमृतवाग्भव जी की दृष्टि में वेदान्त

—डा. बलजिन्नाथ शास्त्री

वेदान्त मूलतः उपनिषदों में प्रतिपादित दर्शन विद्या का नाम है क्यों कि वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग उपनिषद ही हैं। वेद के अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च सिद्धान्तों को उन्हीं में कहा गया है। भारतवर्ष में कई एक दार्शनिक विचार धाराएँ समय-समय पर चल पड़ी और उनमें से बहुतों ने अपने आपको वेदान्त नाम दे दिया। उस नीति के फल स्वरूप अनेकों ही दार्शनिक विचार धाराओं के आचार्यों ने अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार उपनिषदों की दर्शन विद्या की व्याख्याएँ कीं और उन अपने-अपने सिद्धान्तों को ही सच्चा वेदान्त ठहराया। ऐसी दार्शनिक परम्पराओं के मुख्य तीन वर्ग हैं। वे हैं १. शङ्कराचार्य का अद्वैत वेदान्त, २. वैष्णवों के विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि और ३. दक्षिण के शैवों के अभेद परिणामवाद, सामरस्यवाद आदि। इनमें से विशेष करके शङ्कराचार्य का अद्वैत वेदान्त ही विद्वत् समाज में वेदान्त कहलाता है। शेष दो वर्गों को वैष्णव दर्शन और शैव दर्शन कहा जाता है। इस तरह से "वेदान्त" नाम पर एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त का एकाधिकार जैसा ही समझिए।

वेदान्त विद्या के उपरोक्त तीन वर्गों पर किसी एक के प्रति भी पूज्यपाद आचार्य महोदय को विशेष श्रद्धा नहीं थी। वे इन्हें निम्न वर्ग के अधिकारियों के योग्य समझते थे, ऐसी बात हमें उनके साथ हुई शास्त्रचर्चाओं से विदित हुई है। उनके ग्रन्थों के आधार पर भी इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। जिस वेदान्त को वे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे वह उपनिषदों में प्रतिपादित मूल वेदान्त है। उस वेदान्त के अनुसार एक मात्र पर ब्रह्म ही वास्तविक तथा सत्य तत्व है। शेष जितना भी प्रपञ्च देखने, कहने, सुनने आदि में आता है, वह सारे का सारा उस परब्रह्म की पारमेश्वरी लीला का प्रदर्शन मात्र है और ऐसी लीला में सदैव प्रवृत्त होकर के ही रहना परब्रह्म का अपना स्वभाव है। यह उसकी स्वाभावभूत परमेश्वरता की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति है। इसका मूल कारण एकमात्र उनका अपना स्वभाव ही है। उनसे भिन्न जब किसी दूसरी वस्तु की कोई सत्ता ही नहीं तो इस प्रपञ्च की लीला के मूल कारण को कहीं और ढूँढ़ना बड़ी भारी भूल है। तो परब्रह्म ही स्वयमेव अपनी स्वभाव–भूता पारमेश्वरी शक्ति के द्वारा इस प्रपञ्च के सृष्टि संहार आदि के अवभासन की लीला का खेल खेलता रहता है। बस इसी सिद्धान्त से जीवन की और संसार की सभी पहेलियाँ सुलझ जाती हैं। यह मूल वेदान्त है। इसी औपनिषद् वेदान्त को पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे और इसे ही वैष्णव, द्वैत, शैव, सांख्या, न्याय, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों से बहुत ऊँचा मानते थे।

आचार्य गौड़पाद और शङ्कराचार्य ने जिस वेदान्त का प्रचार समूचे भारतवर्ष में किया, वह विवर्त्तवादी वेदान्त है। उस विवर्त्तवाद के अनुसार "यह संसार मिथ्या है, स्वप्न संसार तुल्य है और बांझ के पुत्रो की तरह न कभी पैदा हुआ

है न कहीं वस्तुतः है ही। इसके आभास का मूल कारण अज्ञान है जो माया का एक विकार है। उसी अज्ञान के कारण अज्ञानी प्राणियों को भ्रम से ही एकमात्र शुद्ध परब्रह्म ही कहीं ईश्वर के रूप में, कही जीव के रूप में, और कहीं जगत् के रूप में, प्रतीत होता रहता है। वह माया भी कोई सत्य पदार्थ नहीं है। उसका भी केवल आभास ही होता है। परन्तु ब्रह्म की उपाधि बनकर और उसके प्रतिविम्ब को अपने भीतर धारण करके उसे ईश्वर के रूप में दिखा देती है। वही ईश्वर उसी माया में से जगत् के सृष्टि, संहार आदि का केवल आभास कराता रहता है। ऐसी सभी बातों में अज्ञान में डूबे हुए प्राणियों को अपने उस अज्ञान ही के कारण केवल प्रतीति होती हैं, वस्तुतः हैं ही नहीं। जो वस्तु है ही नहीं उसकी मिथ्या प्रतीति होने को विवर्त्त कहते हैं। जीव जगत् और ईश्वर हैं हीं नही, परन्तु फिर भी प्रतीत होते हैं, यह शङ्कर वेदान्त का विवर्त्त है। किसी वस्तु का किसी और वस्तु के रूप में प्रतीत होना भी विवर्त्त है। ब्रह्म है और एक मात्र सच्चिदानंदस्वरूप हैं, परन्तु वही ईश्वर के रूप में, जीवों के रूप में और जगत् के रूप में प्रतीत होता रहता है। यह भी अद्वैत वेदान्तका विवर्त्तवाद है।

पूज्यपाद श्री अमृतवाग्भवाचार्य इस विवर्त्त वाद पर ठहराए हुए शङ्कराचार्य के अद्वैतवेदान्त से जरा भर भी सहमत नहीं थे। तभी तो उन्होंने अपने "आत्मविलास" में मुख्य एकमात्र अद्वैत-वेदान्त की ही आलोचना की है। लगभग प्रत्येक प्रकरण में उस विवर्त्तवादी वेदान्त पर उन्होंने तर्कों के द्वारा कड़ी आलोचना की है विशेषकर के महाविद्या के और पूर्ण कर्तृत्व के प्रकरणों में वे इस वेदान्त को अवर दर्शनों में गिनते थे।

हां उनका यह भी विचार था कि वस्तुतः गौड़पाद और शङ्कर दोनों ही आचार्य महानुभावों का अपना दर्शन विवर्त्तवाद वाला दर्शन नहीं था। इस विवर्त्त पर ठहराए हुए अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन, उन्होंने बौद्धों के विज्ञानवाद से टक्कर लेने के प्रयोजन के लिए, अपने भाष्यों और तर्क प्रधान ग्रन्थों में किया था। जिस दर्शन पर उन्हें विश्वास था और जिस दर्शन का वे अभ्यास करते थे वह तान्त्रिक शैव / शाक्त दर्शन था। उनका अपना दर्शन तो विवर्त्तवाद के स्थान पर परमेश्वरवाद का ही आश्रय लेता था। उनका वह वास्तविक वेदान्त औपनिषद् वेदान्त ही था। तभी तो आ. शङ्कराचार्य के "प्रपञ्चसार तंत्र" में वेदान्त की दर्शन विद्या को परब्रह्म की स्वभावभूता परमेश्वर के ही सिद्धान्त पर ठहराया गया है। वह औपनिषद् वेदान्त अपने दर्शन सिद्धान्तों के विषय में शैव / शाक्त दर्शनों के सिद्धान्तों से मिलता जुलता है। वेदान्त के उन दो गुरुओं ने अपने वास्तविक दर्शन विचारों की अभिव्यक्ति "सुभगदेय स्तुति" और "सौन्दर्यलहरी" में भी की है। पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय कहा करते थे कि शङ्कराचार्य ने अपने आप तो अतीव सरस वेदान्त का स्वाद लिया परन्तु अपने अनुयायियों को शुष्क और नीरस विवर्त्तवाद ही खाने को दिया। उनके वे अनुयायी तो "प्रपञ्चसार तंत्र" के नाम तक को नहीं जानते हैं। न ही वे लोग "सुभगोदयस्तुति" या "सौन्दर्य लहरी" पर ही कभी विचार करते हैं। फिर पूज्यपाद कहा करते थे कि आ. गौड़पाद और शङ्कर दोनों ही शैवी उपासना के अनुयायी थे और आगमिक श्री विद्या की साधना किया करते थे। उनके अनुयायियों ने उस साधना मार्ग को छोड़ दिया और मात्र तर्क की रट लगाते लगाते उस स्थिति पर पहुँचते गए जहाँ और लोग उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहने लगे। इस प्रकार के वेदान्तियों को बेख देख कर और उनके विवर्त्तवाद के तर्कों को सुन सुन कर ही वेदान्त दर्शन से अरुचि हो गई थी। इसी लिए उन्होंने अपने "आत्मविलास" में स्थान स्थान पर विशेष करके अद्वैत वेदान्त को ही आड़े हाथों लिया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है पूज्यपाद आचार्यजी को उपनिषदों के वेदान्त के प्रति बहुत आदर था। परन्तु उनका अपना उपासना मार्ग वेदान्त का न होकर आगमों का शैव-शाक्त मार्ग था। उपनयन संस्कार के ही समय उन्हें तान्त्रिक श्री विद्या की दीक्षा अपने पूज्यपिताजी से मिली थी। तदनुसार उनकी इष्ट देवी बाला त्रिपुरा थी और उसी के तान्त्रिक मन्त्र का जप उनका आवश्यक एक नित्य कर्म था। त्रिपुरा देवी के अनुग्रह से ही उन्हें भगवान मुनीश्वर दुर्वासा के साक्षात् दर्शन हुए थे और उन्होंने उन्हें उत्कृष्ट तर शाम्भव योग की परिपूर्ण विधि सिखा दी। उस योग विद्या के अभ्यास से ही उन्हें आगमिक दर्शन विद्या के सिद्धान्त साक्षात् अनुभव में आ गए। उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार उन्होंने "श्री आत्मविलास, "श्री विशंतिकाशास्त्रम्" श्री सिद्धमहारहस्यम्" जैसे दर्शन ग्रन्थों का और 'परमशिव स्तोत्र" तथा 'महाशक्ति स्तव" जैसे दार्शनिक स्तोत्रों का निर्माण किया। उनके ये सभी दर्शन ग्रन्थ उस आगमिक दर्शन विद्या से सम्बद्ध हैं जो उपनिषदों के वेदान्त से भी बहुत ऊँचे स्तर की है।

उपनिषदों की दर्शन विद्या सर्वसाधारण उपासकों के योग्य है। उस विद्या के उपासक प्रायः देवयान गति से धीरे-धीरे आध्यात्मिक उन्नति करते करते चिरकाल की साधना के अन्त में परब्रह्म के साथ अभेद भाव को प्राप्त करते हैं। शैवी और शाक्ती योगविद्या तो उन विरले साधकों के लिए विकास को प्राप्त हुई, जो तीव्रगति से परब्रह्म के साथ अद्वैत भाव को प्राप्त करने वाले होते हैं। ऐसे साधक वे होते हैं जिन पर परमेश्वर ने अतीव बलशाली अनुग्रह शक्तिपात किया हो। ऐसे महानुभाव कोई-कोई ही देखने में आते हैं। इसी दृष्टि से भगवद्गीता में कहा गया है—मनुष्याणां सहस्रषु, कश्चिद्यतति सिद्धये ।। यततामपि सिद्धानां, कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ।।" उनमें से किसी-किसी को इस शरीर में रहते हुए ही अपने परिपूर्ण परमेश्वर भाव की विभूतियां अनुभव में आ जाती हैं और किन्हीं-किन्हीं को उन विभूतियों की अनुभूति इस मर्त्य शरीर को छोड़ देने पर ही हुआ करती है। ऐसी उत्कृष्टतर आगमिक दर्शन विद्या के उपासक पूज्यपाद जी थे। इस कारण इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उनकी अपनी दर्शन विद्या आगमिक दर्शन विद्या थी और औपनिषद वेदान्त की विद्या से बहुत ऊँची थी, यद्यपि ने उस औपनिषद बिद्या को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे।

वैष्णवों और दक्षिण के शैवों की वेदान्त विद्या को वे एक साधारण विद्या समझते थे। मूलवेदान्त में ऐश्वर्यवाद की प्रधानता है और शङ्कर वेदान्त में विवर्त्तवाद की, ऐसा ऊपर बताया गया। दक्षिण के शैवों और वैष्णवों की वेदा-त की विद्या में भी यद्यपि ऐश्वर्यवाद की प्रधानता है तथापि उस विद्या को पूज्यपाद जी अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा साधारण ही ठहराते थे। इस बात के कई एक कारण हैं। एक कारण यह हैं कि इन वैष्णवों और शैवों ने जगत् की उत्पत्ति को परब्रह्म से या उसकी शक्ति से परिणामवाद के द्वारा माना। तदनुसार परब्रह्म में या उसकी पारमेश्वरी शक्ति में कोई स्वरूप परिवर्तत आ गया। जिससे वे जगत के रूप में प्रगट हो गए। स्वरूप परिवर्तन को परिणाम कहते हैं और परिणाम विकार होता है। विकारवान वस्तु जड़ होती है, चिद्रूप नहीं होती। अतः चिद्रूप परमेश्वर परिणाम के न्याय से जगत् के रूप को धारण नहीं करता है। यदि ऐसी बात मान ली जाए तो वह चिद्रूप न होता हुआ जड़ रूप सिद्ध होगा। दूसरी बात यह है कि परमेश्वर और उसकी शक्ति वस्तुतः कोई दो पदार्थ नहीं हैं। एक ही परतत्व के स्वभाव और स्वरूप को समझने और समझाने के लिए उसे ये दो नाम दिए गए हैं। तो परसेश्वर भी परिणाम शील ही सिद्ध हो जाएगा। तीसरी बात यह है कि ये वैष्णव और ऐसे शैव परमेश्वर में स्वगत भेद को भी ठहराते

हैं जब कि पूज्यपाद जी सर्वथा परम अद्वैत को मानते थे। क्योंकि उन्हें शाम्भव योग के अभ्यास से वैसी ही अनुभूति हुई थी। चौथी बात यह है कि प्रायः सभी वैष्णव और बहुत सारे दक्षिण के शैव परमेश्वर के उस आधिदैविक स्वरूप को ही सर्वोत्तम और सर्वोच्च दर्जा देते हैं, जिस स्वरूप में वह नारायण या त्रिनेत्र शिव के शरीर को धारण करता हुआ किसी दिव्य लोक के आलोक को भोगता है। वे लोग परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप को विशेष महत्त्व देते नहीं, जबकि पूज्यपाद जी को स्वात्म परमेश्वर की सर्वथा असीम तथा सम्पूर्ण एवर्श्य से युक्त शुद्ध चिन्मात्र का साक्षात् अनुभव हो चुका था। इन कारणों से वे इन शैवों और वैष्णवों के वेदान्त को अद्वैत वेदान्त से भी निचले दर्जे का मानते थे।

दक्षिण के शैव और वैष्णवदर्शनकार जगत की उत्पत्ति परिणाम वाद की शैली पर ठहराते हैं। अद्वैत वेदान्ती इस विषय में विवर्तवाद का आसरा लेते है। परन्तु पूज्यपाद जी की दृष्टि में इस सारे प्रपञ्च के सृष्टि संहार आदि का आभास प्रतिबिम्ब न्याय से हुआ करता है। परमेश्वर की पारमेश्वरी शक्तियां उसमें अभेद भाव से अहंरूपता में ठहरी रहती हैं। परन्तु जब परमेश्वर की पारमेश्वरी इच्छा से उसकी उन्हीं शक्तियों के प्रतिबिम्ब बहिर्मुख तथा प्रतिफलित होते हैं तो भेदभाव से इदंरूपतया चमक उठते हैं। इस तरह से जगत् वस्तुतः परमेश्वरे से अभिन्न है, परन्तु उसकी इच्छा से ही उससे भिन्न जैसा होता हुआ भी प्रकट हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अद्वैत निष्ठ शैव सिद्धों ने जगत् की सृष्टि प्रतिबिम्ब न्याय से बताई है। पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय, को भी इस बिम्ब प्रति बिम्ब स्थिति की अनुभूति उस शाम्भवी साधना के अभ्यास से हुई थी जो साधना उन्हों ने भगवान दुर्वासा से सीखी थी। इस कारण से भी वे दक्षिण के शैवों और वैष्णवों के वेदान्त से समहत नहीं थे। तो सारे लेख के निष्कर्ष ये हैं--

१. पूज्यपाद आचार्य अमृतवाग्भव जी दक्षिण के शैवों और वैष्णवों के वेदान्त को बहुत अवर कोटि का दर्शन मानते थे।

२. शंकराचार्य के विवर्त पर ठहराए हुए अद्वैत वेदान्त से वे सहमत नहीं थे। उसकी उन्होंने बहुत कड़ी आलोचना की है।

३. "प्रपञ्चसार" और सौन्दर्यलहरी" से अभिव्यक्त होने वाले दर्शन सिद्धान्तों को वे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते हुंए उसे औपनिषद वेदान्त से भी ऊँचा मानते थे। इस तरह से शङ्कराचार्य स्वयं उच्चतर विद्या के उपासक थे, ऐसा आचार्य जी का विचार था।

४. पूज्यपाद महोदय तो स्वयं आगमिक श्री विद्या के उपासक थे और उनकी इष्टदेवी बाला त्रिपुरा थी।

५. उनकी योग विद्या वेदान्त के ज्ञान योग से बहुंत ऊँची और उत्कृष्टर स्तर की शाम्भवी योग विद्या थी।

६. उपनिषदों की वेदान्त विद्या को वे श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते थे, यद्यपि स्वयं उच्चतर आगमिक दर्शन विद्या के अनुयायी थे। उसी विद्या का निरूपण उनके ग्रन्थों में मिलता है।

७. औपनिषद वेदान्त की साधना के निदिध्यासन को उन्होंने आगमिक ज्ञान योग में गिना जबकि उनका अपना योग ज्ञान योग से भी और इच्छा योग से भी ऊँचा आनन्द योग था। उसके विषय में उन्होंने कहा है--

(सि. म. र.५–२)

न किञ्चित् क्रियते यत्र किमपि ज्ञायते न च
इष्यतेऽपि च नो किञ्चित स योगः परमोऽस्ति नः॥

६२७ गांधीनगर
जम्मू

वर्णाश्रम व्यवस्था एवं आचार्यश्री अमृतवाग्भवजी

—रत्नलाल अग्रवाल

ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्त श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य से मेरा चालीस वर्ष का संबंध रहा है, जिसके अन्तिम बीस वर्ष में गुरु–शिष्य संबंध भी रहा। कार्तिक शुक्ला अक्षय नवमी सं. २०३९ (२४ नवं. १९८२) को इसी दास के घर में अनन्त श्री जी महाराज महा प्रयाण कर ब्रह्म भावस्थ हुए।

आचार्य श्री जहाँ दर्शन–शास्त्र के धुरन्धर विद्वान् और अध्यात्म ज्ञान में निष्णात तत्त्वदर्शी महात्मा थे, वही व्यवहार कुशलता की तो वे प्रतिमूर्ति ही थे। इसी सम्बन्ध में वर्णाश्रम–पद्धति को वे समाज लिये अत्यन्त उपयोगी एवं अनिवार्य मानते थे। उसकी उपेक्षा, अवहेलना, परिहास अथवा उल्लंघन उन्हें असह्य था।

दुर्भाग्यवश पहले बौद्ध फिर जैन तत्पश्चात कबीर आदि निर्गुण पंथियों द्वारा इसका खण्डन सर्वविदित है। वर्तमान युग में इसे एक सामाजिक कुरीति मानकर योजनाबद्ध रूप से कुठाराघात करके इसे क्षत विक्षत किया गया है। इस दुर्दशा पर आचार्य महोदय समय-समय पर अपनी व्यथा एवं निराशा व्यक्त करते रहते थे। प्रस्तुत लेख में उनके तत्सम्बन्धित विचारों को यथासंभव अपनी स्मृति के आधार पर लेख-बद्ध करने का प्रयास मैं कर रहा हूँ। सन् १९५७ से १९८२ के बीच, समय-समय पर, बिना किसी पूर्व–नियोजित कार्यक्रम के प्रसंग–वश, सहज भाव से उन्होंने जो कुछ कहा, वही इस लेख की विषय वस्तु है।

सन् १९४३–४४ में जब मैं मात्र ६/७ वर्ष का अबोध बालक था, अनन्त श्री जी महाराज हमारे यहां (खरड, जिला रोपड़) पहले पहल पधारे थे। मेरे स्वर्गीय पूज्य पिता जी ला० शिव प्रसाद अग्रवाल पर उनकी कृपा हुई। हम लोग उन्हें 'स्वामीजी' कह कर पुकारते थे। सन् १९४५ तक वे निरन्तर हमारे यहां आते जाते रहे। तत्पश्चात जो अकस्मात एक बार गये तो फिर १२ वर्ष तक इन से भेंट ही नहीं हुई। पुनः सन् १९५७ में भाई राज कुमार जी अग्रवाल के विवाह के अवसर पर दिल्ली में उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला। तदनन्तर जीवन–पर्यन्त उनकी कृपा बनी रही। उन्हीं की प्रेरणा से सन् १९६५ में मैं पंजाब से नौकरी छोड़ कर दिल्ली चला आया। यहां आकर तो मानो उनकी कृपा के भंडार ही खुल गये मेरे लिये। ४० वर्ष के सभी संस्मरणों को यहां लिखना संभव नहीं। अतः अब प्रस्तुत लेख की विषय वस्तु की ओर आता हूँ।

मेट्रिक तक की शिक्षा मैंने एक क्रिश्चियन स्कूल के माध्यम से प्राप्त की थी। और इससे ऊपर की परीक्षायें प्राइवेट परीक्षाओं के रूप में। इसी कारण सनातनी संस्कारों की जो नींव अनन्त 'श्रीजी' ने हमारी बाल्यावस्था में जमाई थी वह हिल चुकी थी। विचारों में अपरिपक्वता थी। वर्णाश्रम को 'समाज का कलंक' मानने में हम लोग गर्व का अनुभव करते थे। हमारे निजी विचार तो वस्तुतः नगण्य थे। दूसरों ने हमारे मस्तिष्क

में जो भर दिया था, उसी के बूते पर हम समाज के विरुद्ध विद्रोह करने पर उतारु थे। एक बार मैंने जिज्ञासा की—

प्रश्न—क्या आप वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रकाश डालने का कष्ट करेंगे। जाति अथवा वर्ण को जन्म से मानना कहां तक व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा न्याय्य है?

उत्तर—वर्ण-व्यवस्था प्राचीनतम सामाजिक व्यवस्था है। हिन्दु समाज में इसका वही स्थान है जो मानव शरीर में मेरु-दण्ड का। इसके बिना समाज रूपी शरीर पंगु हो कर रह जाता है। व्यवस्था का अर्थ ही है नियमों का पालन करना, नियन्त्रण अथवा अनुशासन में रहना। बिना नियमों के सामाजिक जीवन, व्यवहार संभव नहीं। वर्णाश्रम के कट्टर विरोधी भी किन्हीं अन्य प्रकार के नियमों के पालन का आग्रह करते हैं, किसी अन्य 'व्यवस्था' पर श्रद्धा रखते हैं। सृष्टि और उसकी संचालन के लिये सुनिश्चित नियमों की रचना स्वयं परमेश्वर द्वारा की जाती है। जाति अथवा वर्ण केवल जन्म से ही मानना उचित है, यही व्यवहारिक एवं वैज्ञानिक है, यही न्याय्य है। इसके विपरीत 'कर्म' से जाति मानने पर अव्यवस्था फैलेगी। क्योंकि कर्म अनिश्चित तथा जन्म निश्चित है। कर्म से जाति मानने पर आज एक व्यक्ति यदि ब्राह्मण है तो कल वही व्यक्ति क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र माना जायेगा। वस्तुतः कर्म से जाति निश्चित करना न केवल अव्यवहारिक है बल्कि असंभव है। अतः जाति निर्धारण का प्रभार परमेश्वर पर (जन्म पर) छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। उदाहरणार्थ नित्य प्रति के जीवन में हम देखते हैं कि चाहे जो व्यक्ति पुलिस अथवा सेना की वर्दी पहन कर उसी के अनुरूप कार्य करना प्रारम्भ कर दे, यह नहीं हो सकता। ऐसा करने के लिये सर्वप्रथम उसे पुलिस अथवा सेना में भर्ती होकर अधिकार प्राप्त करना होगा। इसी प्रकार ब्राह्मणोचित कर्म करने के लिये पहले व्यक्ति को ब्राह्मण माता पिता की संतान के रूप में जन्म लेकर अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। बिना अधिकार के कर्तव्य 'अनाधिकार-चेष्टा' मात्र है।

प्रश्न—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।"

भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने वर्ण को गुण और कर्म के अधीन क्यों नहीं माना?

उत्तर—अज्ञान-वश लोग इस श्लोक का अशुद्ध अर्थ लगाते है। (आचार्य श्री को गीता का ज्ञान साक्षात् भगवान् कृष्ण से प्राप्त हुआ था)। शुद्ध अर्थ यह है कि चारों वर्ण और उनके गुण और कर्मों की सृष्टि परमेश्वर ने स्वयं की है। यह नहीं कि गुण और कर्मों के अनुसार चारों वर्णों की सृष्टि परमेश्वर ने की है। दूसरे अशुद्ध अर्थ से यह धारणा बनती है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार का कर्म करेगा वही उसका वर्ण होगा। ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्म से वर्ण का निश्चय कभी हो ही नहीं सकता। वर्ण और उनके करने योग्य कर्म दोनों की सृष्टि भगवान् ने की है, यही शुद्ध और व्यवहारिक अर्थ है। यही सत्-विद्या है अथवा तत्त्व ज्ञान है जो परम्परा से भगवान् मनु को प्राप्त हुई और जिसके आधार पर मनुस्मृति की रचना करके उन्होंने वर्णाश्रम का रूप स्थिर किया। यही नहीं, वर्तमान युग में भी भारतीय संविधान के अनुसार भी तथाकथित 'अनुसूचित जाति' की सदस्यता किसी की स्वेच्छा पर आधारित न होकर 'जन्म' पर निर्भर है, अन्यथा कोई भी व्यक्ति सुख-सुविधाओं के लोभ में 'अनुसूचित' जाति से सम्बन्धित होना पसंद करेगा। यहाँ यह भी सिद्ध हुआ कि जाति विहीन समाज की कल्पना भी सर्वथा अव्यवहारिक है। इस पर

भी जाति को कर्म से सम्बद्ध करने का दुराग्रह व्यर्थ है !

प्रश्न—किसी वर्ण विशेष को जन्म से ही अधिक श्रेष्ठ और अन्य को कम श्रेष्ठ मानना कहां तक उचित और न्याय है ?

उत्तर—यह सत्य है कि धर्मशास्त्रानुसार ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अवरोह क्रम से क्रमशः कम श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु यह विषम व्यवहार किसी पूर्वाग्रह, दुराग्रह, दुर्भावना अथवा अन्याय पर आधारित नहीं। देखिये—

(१) जिस वर्ण के अधिकार जितने श्रेष्ठ हैं उसके कर्त्तव्य उतने ही कठोर। ब्राह्मण को त्याग, तपस्या और सरलता का जीवन व्यतीत करना अनिवार्य है। चक्रवर्ती सम्राट चन्द्र गुप्त मौर्य के प्रधान मन्त्री चाणक्य कुटिया में रहते थे।

(२) इस जन्मजात श्रेष्ठता का सम्बन्ध कुछ ही प्रकार के व्यवहार तक सीमित हैं—यथा वैवाहिक सम्बन्ध पौरोहित्य कार्य, मन्त्रोपदेश आदि। इस जातिगत सम्बन्ध के अतिरिक्त एक मानवता का सम्बन्ध भी होता है जो वर्णाश्रम के अन्तर्गत भी मान्य है। इस विषय में अपने जीवन की एक घटना सुनाता हूँ—

"विद्यार्थी जीवन में जब मैं अभी किशोरावस्था में ही था, एक दिन एक वृद्धा मेहतरानी को अपने कर्त्तव्य-निर्वहन के समय अकस्मात् चोट आने से रक्त-स्राव से पीड़ित देख मैंने दयार्द्र चित्त हो उसका तुरन्त प्राथमिक उपचार किया और पट्टी आदि बांध दी। इसे देख पण्डित जनों ने भारी आपत्ति की और जाति बहिष्कृत करने की धमकी दी। परन्तु मैंने इसकी कोई परवाह नहीं की और मात्र कहा, "मैं धार्मिक नियम के उल्लङ्घन के दण्ड स्वरूप प्रायश्चित करने को तैयार हूं, परन्तु ऐसी परिस्थिति में मानवता की पुकार की अवहेलना नहीं कर सकता।"

इसी प्रकार एक अन्य घटना में एक बार एक अंग्रेज जज के सम्मुख प्रस्तुत एक फौजदारी मुकद्दमे में अभियोजन पक्ष के अधिवक्ता ने अभियुक्त (ब्राह्मण) द्वारा एक मुसलमान को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करने पर आपत्ति करते हुये कहा—"देखिये इनकी हालत इन्हें कोई ब्राह्मण गवाह भी नहीं मिल पाया अपना पक्ष पेश करने को।" अभियुक्त ब्राह्मण ने तुरन्त प्रत्युत्तर देते हये कहा, "मैं यहां साक्ष्य देने आया हूं, पिता का श्राद्ध करने नहीं। यह व्यक्ति घटना का प्रत्यदर्शी गवाह है। न्यायालय को इसके सम्प्रदाय अथवा जाति से क्या प्रयोजन।"

माननीय जज ने जब यह सुना तो तुरन्त सहमत हो निर्णय ब्राह्मण के पक्ष में कर दिया।

अतः यह ध्यान रखना चाहिये कि हर प्रकार के व्यवहार को नियमित करना वर्णाश्रम का उद्देश्य नहीं। हर परिस्थिति में न तो उसकी प्रासंगिकता है, न ही आवश्यकता।

(३) विषमता तो प्रकृति का नियम है। क्या सभी मानव शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक दृष्टि से एक समान हैं। सृष्टि के कण-कण में विषमता के दर्शन होते है। पर्वत, नदियां, समुद्र, सभी कुछ विषमता से ग्रस्त। दैनिक जीवन में झांकिये, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, भ्राता-भगिनी, भार्या-भरतार, क्या सभी सम्बन्ध एक समान हैं ? पूर्ण समानता से व्यवहार संभव नहीं। सभी मानव हैं; उनमें मानवता का भाव सामान्य हैं, परन्तु हैं सभी एक दूसरे से भिन्न। अतः पूर्ण समता की कल्पना मात्र ढोंग है। वस्तुतः विषमता में कुछ भी अस्वाभाविक अथवा अप्राकृतिक नहीं।

और न ही यह चुभती है। खटकता तो अन्याय है। वर्णाश्रम के अन्तर्गत एक वर्ण को अधिक श्रेष्ठ और दूसरे को कम श्रेष्ठ मान कर कोई आपत्तिजनक कार्य नहीं किया गया। इस प्रकार का वर्गीकरण किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में विद्यमान है।

(४) वर्णाश्रम का विशुद्ध रूप यह है कि इसके अन्तर्गत सभी वर्णों की स्थिति किसी यन्त्र के विभिन्न पुर्जों अथवा शरीर के अवयवों की भांति है, कोई बड़ा कोई छोटा, प्ररन्तु प्रत्येक का अपना-अपना स्थान है और अपना-अपना कार्य। अत्यन्त छोटे से छोटे पुर्जे में विकार उत्पन्न होने से पूरा यन्त्र अथवा शरीर नाकारा हो जाता है। इसी प्रकार समाज रूपी यन्त्र में ब्राह्मण से शूद्र पर्यन्त सभी का अपना-अपना महत्त्व है। किसी एक के बिना समाज की रचना अपूर्ण ही रहेगी।

प्रश्न—क्या वर्णाश्रम व्यवस्था और अद्वैत भावना में परस्पर विरोध हैं ?

उत्तर—यह धारणा सर्वथा निराधार और अज्ञान-जन्य है। लोग परमार्थिक और व्यवहारिक दृष्टि में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाते। कहां किस का औचित्य और प्रासंगिकता है, यह समझ नहीं पाते। इसलिये भटकते है। ब्रह्म के सिवा और किसी पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है, यह सत्य है। ब्रह्माण्ड के कण-कण में वही परम-तत्त्व ओत-प्रोत है क्योंकि सभी कुछ उसी में है। इस पारमार्थिक दृष्टि से ब्राह्मण से शूद्र पर्यन्त उसी के रूप हैं। अतः छोटा कौन, बड़ा कौन ? परन्तु यह व्यवहार से ऊपर की अवस्था है। व्यवहार में सभी पृथक-२ हैं। ब्राह्मण–ब्राह्मण है और शूद्र–शूद्र। सभी को एक मानने से व्यवहार संभव नहीं। व्यवहार एक खेल हैं। प्रत्येक खेल के अपने-अपने नियम होते हैं। राम लीला का खेल खेलना है तो किसी को राम और किसी को रावण बनना अनिवार्य है। वही पर–ब्रह्म ब्राह्मण है और वही शूद्र। वह 'एक' है अथवा 'एक' वह ही है। समाधान तर्क का संभव है, कुतर्क का नहीं 'क्यों' का कोई समाधान नहीं। सृष्टि, लय, प्रलय उस परमेश्वर का विलास है। यही उसकी क्रीड़ा है, इसी में उसे आनन्दानुभूति होती है। अतः वर्णाश्रम तथा अद्वैत भावना में कोई अन्तर्विरोध नहीं, बल्कि पूर्ण समरसता है। काष्ठ अथवा स्वर्ण से निर्मित विभिन्न वस्तुओं को व्यवहार की दृष्टि से उनके नाम रूप के आधार पर सम्बोधित किया जाता है। 'स्वर्ण' अथवा 'काष्ठ' कह कर नहीं पुकारा जाता। एक ही व्यक्ति पृथक-पृथक सम्बन्धों से कही पिता, कहीं, पुत्र, कहीं श्वसुर, कहीं जामाता, कहीं मित्र, कहीं शत्रु है। इसी प्रकार वही परमेश्वर कहीं ब्राह्मण और कहीं शूद्र बन कर विभिन्न प्रकार व्यवहार करता है।

प्रश्न—परमेश्वर ने तो केवल मनुष्य को जन्म दिया। उसे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की संज्ञा से कालान्तर में एक वर्ग विशेष ने जो दूसरों की अपेक्षा अधिक साधन सम्पन्न था अपना स्थायी वर्चस्व स्थापित करने के उद्देश्य से दी और स्वयं को बड़ा (ब्राह्मण) और दूसरों को अपने से छोटा (अन्य वर्ण) कहना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार का वर्गीकरण केवल भारत में ही क्यों उपलब्ध है।

उत्तर—इस धारणा का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं। इसके विपरीत "चातुर्वर्ण्यं मया श्रृष्टं........।" आदि गीता के वाक्यों के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि परमेश्वर ने स्वयं की है। योगेश्वर भगवान् कृष्ण के कथन को मिथ्या मानने का कोई औचित्य नहीं। यह संभव है कि सृष्टि के आरम्भ में सभी ब्राह्मण रहे हों और कालान्तर में उनकी प्रवृत्ति देख कर उन्हीं में से

अन्य वर्णों का सृजन किया गया हो। बादल से निकलने वाली वर्षा की पहली बूंद को उसी समय तक पवित्र माना जाता है, जब तक कि उसका सम्पर्क पृथ्वी से नहीं हो जाता, उस में विकार उत्पन्न नहीं होता। वर्ण व्यवस्था किसी समय समस्त विश्व में प्रचलित थी। और स्थानों पर यह बहुत पहले नष्ट हो चुकी है। किन्तु इसके भग्नावशेष कहीं-कहीं अभी तक दृष्टिगत होते हैं। अरब देश के 'बद्दू' वस्तुतः 'वेद्' (वेद को मानने वाले) ही हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में भारत की भौगोलिक सीमायें भी तो अत्यन्त विस्तृत थी। लगभग समूचा विश्व ही 'भारत' के अन्तर्गत आता था।

प्रश्न—क्या यह सत्य है कि वर्ण-व्यवस्था शूद्रों के प्रति अत्यन्त पक्षपात-पूर्ण, विद्वेष-पूर्ण और अन्याय्य है।

उत्तर—वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध इस प्रकार का अनर्गल दोषारोपण एवं विष-वमन करने वाले विदेशी अनार्यों से प्रभावित विवेकहीन और अल्पज्ञ हैं। यथा—

(१) वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के अधिकार और कर्त्तव्य जन्म-सिद्ध और सुनिश्चित हैं। किसी भी वर्ण का तिरस्कार अथवा अवमानना की तो इस में कल्पना तक नहीं है। शास्त्र का कथन है कि वयोवृद्ध शूद्र के आगमन पर नवयुवक ब्राह्मण यदि बैठा है, तो सम्मान सूचक उठ कर खड़ा हो जाये। तब पक्षपात अथवा संकीर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (मनोरथ-चतुष्टय) सभी वर्णों को सुलभ है। परन्तु इनकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार—

"स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत; संसिद्धि लभते नरः"
॥ अध्या० १८ ॥

"श्रेयास्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्"
॥ अध्या० ३ ॥

(अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लिप्त रह कर ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करते है। अपना धर्म (कर्त्तव्य) गुण-रहित भी हो तो भी अच्छी तरह आचरण किये हुये दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ है)

"स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम"
॥ अध्या० १८ ॥

"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत"
॥ अध्या-१८ ॥

(स्वाभाविक कर्म करने से दोष भी नहीं लगता। दोष-पूर्ण होने पर भी सहज कर्म त्यागने योग्य नहीं)

उपरोक्त भाव ही वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार है।

(२) ब्राह्मण को जो सिद्धि देवस्थान के भीतर जाकर देव-पूजा से प्राप्त होती है, शूद्र (चाण्डाल) को वही सिद्धि 'कलश दर्शन' और चौखट पर प्रणाम करने मात्र से प्राप्य है। ऐसी उदार 'व्यवस्था को अन्याय्य या विद्वेषपूर्ण कहना मूर्खता का स्पष्ट प्रमाण नहीं तो और क्या है।

(३) ब्राह्मण यदि लोलुप, लम्पट और कर्त्तव्यच्युत है, दुराचारी है तो उसका पतन अवश्यम्भावी है, वह दण्ड का अधिकारी है। परन्तु रहेगा वह ब्राह्मण ही ब्राह्मणत्व से वंचित वह नहीं होगा शूद्र यदि सदाचारी, धर्मज्ञ, आस्तिक और निष्ठावान है और अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ है तो वह समाज में प्रतिष्ठित होगा ही, दैवी अनुग्रह का अधिकारी भी वह होगा। परन्तु रहेगा वह शूद्र ही। ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व जन्मजात हैं। विशेष प्रकार के कतिपय

व्यवहार में जहां ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व ही प्रासंगिक है, वहां श्रेष्ठ शूद्र भी ब्राह्मण का स्थानापन्न नहीं बन सकता। ब्राह्मण को अपने ब्राह्मणत्व का स्वाभिमान तो होना चाहिये दुरभिमान नहीं। शूद्र को भी शूद्रत्व पर स्वाभिमान होना चाहिये, दूसरों से ईर्ष्या या अपने से हीन भावना नहीं।

उदाहरणतः शूद्र शिरोमणि सन्त तुका राम (महाराष्ट्र) ने चक्रवर्ती सम्राट छत्रपति शिवाजी के आग्रह पर भी उनका गुरु बनने से इन्कार कर दिया था और उक्त उद्देश्य के लिये उन्हें समर्थ स्वामी राम दास (ब्राह्मण) की शरण में जाने का परामर्श दिया था। इसके विपरीत 'ब्राह्मणोचित तपस्या' करने का दोषी पाया जाने पर भगवान रामचन्द्र ने शम्बूक का शिरोच्छेदन किया था। सन्त तुकाराम कोई साधारण पुरुष नहीं थे। उनके सशरीर स्वर्गारोहण की कथा तो सर्वविदित है ही।

(४) वेद मन्त्रों के उच्चारण न कर पाने से उसका अनिष्ट क्या है! क्या साधारण भक्तिभाव, भगवन्नाम स्मरण मात्र से उसके कल्याण (मोक्ष) का मार्ग प्रशस्त नहीं किया गया? वस्तुतः इसका कारण उसकी स्वभावगत एवं शरीरगत अपवित्रता ही है। यदि उसके उद्धार के लिये विकल्पतः अन्य उपायों का प्रावधान न होता तो बात और थी।

(५) यदि कोई सिद्धांतहीन, तथाकथित उच्च वर्ण के दम्भ से चूर व्यक्ति वर्णाश्रम की आड़ लेकर अकारण किसी शूद्र का शोषण करता है तो वह धर्म तथा समाज का कलंक है। इसमें व्यवस्था का दोष नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष का है। आवश्यकता व्यवस्था को इस प्रकार के दोषों से मुक्त करने की है न कि व्यवस्था को नष्ट करने की। शत्रु से रक्षा के लिये खड्ग धारण की जाती है। यदि कोई मूर्ख उसके दुरुपयोग से आत्म घात करले या स्वजनों को ही काट डाले तो दोष खड्ग का नहीं, उस मूर्ख व्यक्ति की बुद्धि का है। सवर्ण एवं शूद्र वर्णों में कितना सौहार्द्र एवं आत्मीयता थी इस पर एक प्रसंग सुनिये—

एक मेहतरानी ने अपना दैनिक कर्त्तव्य निभाने के पश्चात् एक दिन रानी साहिबा से कहा, "आपके दामाद आये है कुछ बढ़िया बासमती के चावल चाहिये।"

रानी साहिबा ने तुरन्त चावल ला कर देते हुए कहा—

"देखो कुछ और चाहिये तो वह भी निःसंकोच मांग लेना। परन्तु दामाद की खातिर–तवाज़ह में कमी न रहे।"

रानी को इस पर आपत्ति नहीं कि मेहतरानी अपने दामाद को 'उसका' दामाद बता रही है। अतः समाज का वर्णगत वर्गीकरण करने और उनके अधिकार और कर्त्तव्यों को सुनिश्चित करने मात्र से अन्याय की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

प्रश्न–यह कहां तक सत्य है कि ब्राह्मण ऋषियों ने अपने वर्ग का पक्षपात करते हुये समाज पर अपना अंकुश बनाये रखने के लिये वर्णाश्रम के रूप में अपने अनुकूल नियमों का निर्माण किया?

उत्तर–यह पूर्णतः असत्य है। बल्कि इस प्रकार के आरोप लगाने वाले ब्राह्मणों के विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। वे तपस्वी स्पृहारहित ब्रह्म–ऋषि कितने स्वार्थ रहित और न्याय-प्रिय थे इस पर एक पौराणिक कथा सुनिये—

प्राचीन समय में एक अत्यन्त विख्यात ब्रह्म ऋषि हुये हैं। (नाम मुझे याद नहीं रहा) उनके द्वारा निर्मित विधि विधानों के आधार पर राजा लोग न्याय आदि किया करते थे। उनके दो पुत्र

थे जो विद्योपार्जन कर वयस्क हो चुके थे और अलग-अलग कुटिया बना कर रहते थे। एक दिन संयोगवश छोटा भाई, अपने बड़े भाई के घर गया और उनकी वाटिका से एक पका हुआ फल तोड़ कर खाने लगा। बड़े भाई घर पर थे नहीं। पिता ने जब यह देखा तो कहा, 'वत्स बिना आज्ञा के किसी की कोई वस्तु लेना तो चोरी है, अपराध है। तुम राजा के पास जाकर अपने अपराध का दण्ड ग्रहण करो।'' पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर पुत्र राजा के समीप पहुंचा और दण्ड की याचना की। परन्तु राजा ने क्षमा कर दिया। पिता को जब पता चला तो उन्होंने फिर से पुत्र को राजा के पास जाकर दण्ड प्राप्त करने का आग्रह किया और कहा कि राजा से कहो कि मैंने भेजा है, दण्ड अवश्य दीजिये।' राजा ने निर्धारित दण्ड के रूप में, ब्राह्मण-पुत्र के हाथ कटवा दिये। असह्य पीड़ा से त्रस्त कटे हाथों से जब पुत्र पिता के समीप पहुँचा तो वे उसे लेकर नदी स्नान को गये और स्नान करने को कहा। पुत्र स्नान कर जब निकला तो दोनों हाथ पहले की भाति बिल्कुल ठीक थे। आश्चर्य चकित हो जब कारण पूछा तो पिता ने कहा, 'यदि मैं तुम्हें दण्ड न दिलवाता तो न्याय और अनुशासन भंग होता, लोग कहते कि अपने पुत्र का पक्षपात किया। हमारे बनाये हुए विधि-विधानों को कौन मानता? रही बात हाथों के ठीक होने की, यह हमारी घर की बात है।'

यदि ऐसा उदात्त चरित्र हमारे ऋषियों का था तभी तो चक्रवर्ती सम्राट तक उनसे थर-थर कांपते थे और चरणों में नतमस्तक रहते थे।

प्रश्न--अब तक की चर्चा में आपने वर्णाश्रम के सम्बन्ध में जन्म पर ही अधिक बल दिया है। क्या इस सन्दर्भ में कर्म का कोई महत्त्व है ही नहीं। यदि है, तो क्या है?

उत्तर--कर्म का बहुत बड़ा महत्त्व है। परन्तु वर्ण जन्मजात है, कर्म से उसमें परिवर्तन ला पाना कठिन क्या असंभव सा ही है। राज-ऋषि विश्वामित्र को ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिये सहस्त्रों वर्ष तक निरन्तर कठिन तपस्या करनी पड़ी थी, तब जाकर यह संभव हुआ था। वास्तविकता तो यह है कि समस्त संस्कृतवाङ्मय में इस दृष्टि से किसी ने कभी विचार ही नहीं किया। स्वानुभव के आधार पर तथा जन्म और कर्म में सामंजस्य की दृष्टि से मैं चारों वर्णों को निम्न चार-चार भागों में विभक्त करता हूँ।

१. ब्राह्मण-ब्राह्मण; ब्राह्मण क्षत्रिय, ब्राह्मण वैश्य और ब्राह्मण-शूद्र।

२. क्षत्रिय-ब्राह्मण; क्षत्रिय-क्षत्रिय; क्षत्रिय-वैश्य और क्षत्रिय-शूद्र।

३. वैश्य-ब्राह्मण, वैश्य-क्षत्रिय, वैश्य-वैश्य; वैश्य-शूद्र।

४. शूद्र ब्राह्मण; शूद्र-क्षत्रिय; शूद्र-वैश्य; शूद्र-शूद्र।

प्रत्येक 'शब्द-युगल' में से प्रथम जन्मजात वर्ण का और दूसरा 'कर्म' का द्योतक है। अर्थात् जन्मजात ब्राह्मण जब केवल ब्राह्मणोचित कर्म करे तो वह 'ब्राह्मण-ब्राह्मण' की श्रेणी में आयेगा अर्थात् वह 'जन्म' और 'कर्म' दोनों से ब्राह्मण होगा। इससे भिन्न यदि वह क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र का कर्म (व्यवहार-आचरण) करे तो वह क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय, ब्राह्मण-वैश्य और ब्राह्मण-शूद्र माना जायेगा। यही स्थिति अन्य तीन वर्णों के संबंध में भी समझनी चाहिये। परन्तु प्रत्येक वर्ण अपने से निचले वर्ण का कार्य यदि करे तो क्षम्य है, अपने से ऊंचे वर्ण के लिये नियत कर्म करने की उसे आज्ञा नहीं है। इस प्रकार के वर्गीकरण से जन्म और कर्म में पूर्ण समन्वय

स्थापित हो जाता है । और बहुत सी निर्मूल शंकाओं का समाधान भी । एक और विलक्षण बात प्रत्येक युग का अपना धर्म और प्रभाव होता है । कृत युग में शूद्र भी ब्राह्मणवत् सदाचारी, भगवद् भक्त और आस्तिक होगा और इस के विपरीत 'कलियुग' में ब्राह्मण भी शूद्र के समान आचरण करे तो कोई आश्चर्य नहीं ।

प्रश्न—क्या यह सत्य है कि भगवान् राम चन्द्र ने शबरी (शूद्रा) के जूठे बेर खाये थे और रामायण महाकाव्य के रचयिता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जन्मजात शूद्र थे ।

उत्तर—यह मिथ्या धारणायें है जो इतिहास सम्मत नहीं हैं । सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या गोस्वामी तुलसी दास तक को इसमें भ्रम हुआ है । प्रायः जनश्रुति के आधार पर ऐसा कहा और समझा जाता है । वास्तविकता यह है कि शबरी जन्मतः 'ब्राह्मण' थी । 'शबरी' तो उसका नाम था । सीता की खोज में बन-बन भटकते श्री राम जब उस सरल-चित्ता, प्रेम-भक्ति रस की दीवानी की कुटिया पर पधारे तो जो भी कन्द मूल अथवा बेर (फल) उसके पास उपलब्ध थे उसने उन्हीं से प्रभू का स्वागत किया । वह बेरों को चख कर यह देखती थी कि किस जाति के बेर अधिक मीठे हैं, उसी जाति के बेरों का भोग उसने प्रभु को लगाया न कि जूठे बेरों का । हमारे यहां नैवेद्य के लिये निर्धारित वस्तु में से यदि नैवेद्य लगाने से पहले ही कुछ चख लिया जाता है तो 'जूठा कर दिया' ऐसा कहा जाता है । इस दृष्टि से बेर जूठे हुए थे । भगवान् राम चन्द्र ने कहीं भी धर्म एवं मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया, इसीलिये तो उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है । महाकाव्य 'रामायण' के रचयिता आदि कवि तो जन्मजात ब्राह्मण ही थे और प्रचेता के पुत्र थे, यह सर्वविदित है । उनका पालन भील आदि वन्य जाति के लोगों ने किया था । परिस्थिति वश ऐसा हुआ था ।

प्रश्न—जो भी है, आखिर वर्ण-व्यवस्था है तो एक सामाजिक व्यवस्था । क्या अन्य व्यवस्थाओं की तरह इसमें समय अनुसार परिवर्तन संशोधन नहीं हो सकता ?

उत्तर—क्यों नहीं परन्तु 'तथाकथित बहुमत' के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा नहीं । यह तो इस विषय-वस्तु के विशेषज्ञों द्वारा ही संभव है । जिस प्रकार के तपोनिष्ठ, त्याग-मूर्ति ब्रह्म-ऋषियों द्वारा इस व्यवस्था को सींचा संवारा गया है, उसी स्तर के विशिष्ट वीतराग महापुरुष ही यह निर्णय कर सकते हैं कि इस व्यवस्था में किसी संशोधन अथवा सुधार की आवश्यकता है या नहीं यदि है तो किस सीमा तक और वे ही इस कार्य को कर सकते है । समय-समय पर नियमों में ढील दी जाती रही है । कृत युग के से कठोर नियम-विधान अब कहां हैं ?

प्रश्न—क्या आप 'हरिजनोद्धार' के पक्ष में हैं ? यदि हैं तो किस प्रकार वह कार्य होना चाहिये ?

उत्तर—'हरिजन' शब्द के जन्मदाता महात्मा गांधी से मेरे सैद्धान्तिक मतभेद थे और यह बात मैंने बहुत पहले जब मैं अभी विद्यार्थी जीवन में ही था, उनसे स्पष्ट कह भी दी थी कि जिस ढंग से वे इस कार्यक्रम को चला रहे थे उससे देश का अथवा 'हरिजनों' का वास्तविक कल्याण कभी होगा नहीं । हरिजन शब्द अब 'जाति विशेष' के अर्थ में रूढ़ हो गया है । आजकल तो 'वोट' की नीति ने वास्तविक समस्या और उसके समाधान को लोगों की दृष्टि से ओझल ही कर दिया है । वस्तुतः यह एक साध्य है, साधन नहीं ।

हरिजनोद्धार एक बहुत महान और पवित्र कार्य है यदि वर्णाश्रम की परिधि में रह कर किया जाये। अन्यथा यह वरदान न हो कर शाप ही सिद्ध होगा। वास्तव में यदि वर्णाश्रम के स्वरूप को अच्छी तरह जान कर उसके अनुसार आचरण किया जाये तो हरिजनोद्धार की संभवतः आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। यह समस्या तो वर्णाश्रम की अवहेलना के फल-स्वरूप जन्म लेती है। 'हरिजनों' को जीवन की सुख–सुविधायें, रोजगार के अवसर, शिक्षा, भोजन आवास आदि सभी कुछ सुलभ कराया जाना चाहिये। उनका तिरस्कार अथवा अपमान करना किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं। परन्तु वर्णाश्रम को नष्ट किये बिना यदि किया जायेगा तभी फलीभूत होगा।

अन्ततः हमें तो केवल यही कहना है कि वर्णाश्रम व्यवस्था ही सर्वोत्तम, व्यावहारिक, न्याय्य, तर्क संगत एवं वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था है। यह भारतीय समाज के लिये उपयोगी और मानव मात्र के लिये कल्याणकारिणी है।

"सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः" ॥

स्टाफ ए–१, दिल्ली हाईकोर्ट
नई दिल्ली



निवेदनम्

[श्री अमृतवाग्भवाचार्य]

नयन्तः प्रख्यातिं विविधमबदानं क्षितितले
स्वकीयानां दोषैश्चितमपि गुणैर्मण्डित मिव।
नरा वेषैः श्वेता असिततनु चिन्ताः पुनरिमे
स्वराष्ट्रं धर्षन्तो निजविजय मुम्भन्ति कम हो ॥१॥

निमग्नैराशीर्षं नरक जलधेरन्तरुदरं
जनानां संघातैरमृत मुपलभ्येत् यदि नु।
ततोनृणां भोज प्रवणधिषणानां खलु भवे–
दमन्दानन्दानां जननममलं शासन मपि ॥२॥

श्री स्वाध्याय सं. २०१२
वर्ष १४ सं. ४

महामहिम आचार्यश्री और लोककल्याण

—आचार्य रामस्वरूप अग्निहोत्री

परम श्रद्धास्पद श्री बाबा महाराज का अशेष जीवन अपने राष्ट्र की संस्कृति के समुत्थान और लोककल्याण में ही व्यतीत हुआ। उन्होंने अपने लिए न कुछ किया और न करने को विचारा। इतना सब कुछ होते हुए भी वह सतत कुछ न कुछ करते ही रहे। गीता का सिद्धान्त उन पर पूर्ण रूपेण घटित होता है।

"नमे पार्थास्ति कर्त्तव्यं, त्रिषुलोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं, वर्त एव च कर्मणि।।"

उनका 'स्व' बहुत विस्तृत और विशाल था। केवल देश ही नहीं अपितु विशाल विश्व उनके 'स्व' में आता था। उनके सिद्धान्त विश्व–कल्याणकारी और सार्वजनीन थे। भारत की आर्ष परम्पराओं के वे जाज्वल्यमान रत्न थे, विश्व हित चिन्तक महर्षि थे, महामहा मनीषी थे।

उनका दर्शन जिन्होंने किया वे धन्य है, जो उनके पास बैठे, उनका उपदेश सुना वे धन्यतर हैं और वे धन्यतम हैं जिनको उनका मार्ग दर्शन मिला और शिष्य कोटि में प्रविष्ट हुए। इन पंक्तियों के लेखक को न दर्शन लाभ हुआ, न वचनामृत मिला और न मिली उनकी सन्निधि।

पूज्य बाबा महाराज जब ब्रह्म भावस्थ हो गए तब उनके कृपा पात्रों के संसर्ग में आने का सौभाग्य हुआ और महाराज जी की कतिपय कृतियाँ देखने को मिली। इतना भी क्या कम है। उनके वाङ्मय कलेबर का साक्षात्कार भी अनेक जन्मों के संचित पुण्यों का ही फल हैं। बाबा महाराज की कृतियों की संख्या भूयसी है और उनका परिशीलन सामान्य जन की बुद्धि से परे हैं। जो कृतियाँ मुद्रित हुई हैं, प्रकाशित हुई हैं, जिन पर भाष्य, टीका, टिप्पणी आदि प्राप्य हैं उन पर भी बड़ी सावधानी से विचार करना होता है।

वे कृतियाँ कोई सामान्य आख्यायिका या गल्प आदि तो नहीं हैं जो सरसरी दृष्टि से पढ़ी जा सकें। आचार्यश्री की कृतियों में निगम–आगम दर्शनादिक के सिद्धान्तों का साम्राज्य है, एक-एक रचना गूढ़ तत्त्वों से ओतप्रोत हैं। "गागर में सागर" की उक्ति उन पर पूर्णरूपेण सार्थक होती है।

'स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च'

आचार्य वर्य ने जो कुछ कहा है, जो कुछ लिखा है वह सूत्ररूप में। उस पर भाष्य होना ही चाहिए। भाष्य के अभाव में सूत्रों का स्वारस्य सर्व-साधारण की पहुँच से सर्वथा बाहर है।

जिन कृतियों पर भाष्यादि समुपलब्ध हैं, उन पर भी अभी बहुत कुछ शोध और गवेषण की आवश्यकता है।

उनकी रचनाएँ दार्शनिक कोटि की हैं, राष्ट्रिय और अन्तर राष्ट्रिय विचारों की हैं, सामाजिक चिन्तन की हैं, आध्यात्मिक सिद्धान्तों की हैं आदि आदि।

आचार्य के ग्रन्थों से पता चलता है उनकी साधना ब्रह्म-साक्षात्कार पर्यन्त थी, वे साधक नहीं सिद्ध थे। दैवी विभूतियों से उनका समागम होता था। उनके सस्वर स्तोत्र पाठ मात्र पर कोप भट्टारक महर्षि दुर्वासा तक प्रसन्न होकर दर्शन देते और उनकी स्वरलहरी के श्रवणार्थ लालायित रहते।

उनकी तपश्चर्या भगवान् सदाशिव को भी उन्हें संजीवनी विद्या प्रदानार्थ आकृष्ट कर लेती। धर्मराज के सेवकों की पराजय उनकी तपश्चर्या और परम शिव सन्तुष्टि का प्रबल प्रमाण हैं।

श्री सञ्जीवनी दर्शनम् में इस घटना का वर्णन निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य हैं—

तूष्णीं स्थितास्ते पुरुषास्त्रयोऽपि,
वामेन मे दक्षिणतः स एकः।
परस्परं सन्ददृशुः परन्तु,
न कोऽपि कं प्रत्यपि किञ्चिदूचे ॥

अर्थात् मेरी बाँई ओर चुपचाप खड़े उन तीनों पुरुषों ने और दक्षिण ओर स्थित उस एक ने एक दूसरे को अच्छी तरह देखा किन्तु किसी से कुछ भी नहीं कहा।

उस समय त्रिशूलधारी देव ने आचार्य जी को अपूर्व सुस्वादु जल पिलाया और त्रैयम्बक मन्त्र का उपदेश दिया—

'समामना स्वादित पूर्वमम्भ-
स्त्रिशूल धारी करकेण कामम्।
निजेन सम्पाय्य दयार्द्र चेता,
स्त्रैयम्बकं मन्त्रमुपादिदेश ॥

इस प्रकार की अनेक घटनाओं का स्पष्ट वर्णन आचार्य जी ने अपने शिष्य-प्रशिष्यों के आग्रह से अपनी कृतियों में किया है।

भारतीय संस्कृति की सुरक्षा और सम्बर्धन के लिए आचार्य प्रवर सतत जागरूक रहे और तदर्थ अपनी कमनीय कृतियों के माध्यम से अपनी भव्य भावना को अपने जनों तक पहुँचाते रहे।

वर्णाश्रम मर्यादा के प्रबल पोषक महाराजश्री अपनी बात निर्भीक होकर कहते थे। मानव जीवन का दुरुपयोग करने वाले जनों को देख महाराजश्री के मन में महती व्यथा का अनुभूति चित्र श्रीमदमृत सूक्ति पंचाशिका की निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

कृतानां पुण्यानां परिणति मपूर्वां नर तनूं,
समासाद्य ध्वान्त स्मर मथन सेवा समुचिताम् ।
मुधा क्षिण्वन्त्येते कुसुम शरसेवासु पतिताः,
सुधां त्यक्त्वा हालाहल महह गृह्णन्ति कुजनाः ।।

अर्थात् मानव जीवन अनेक पुण्यों के फलस्वरूप उपलब्ध है । इस शरीर का उपयोग होना चाहिए शिवाराधन में । किन्तु ऐसा न करके जो जन विषय वासना में सारे जीवन को नष्ट कर देते हैं वे कुत्सितजन अमृत का परित्याग करके विष का सेवन करते हैं—इससे अधिक खेद का विषय क्या हो सकता है ।

इस प्रकार की लोक कल्याण कारिणी उपदेशावली से बाबा महाराज के सभी ग्रन्थ भरे पड़े हैं, उनका मनन और परिशीलन होना अत्यावश्यक हैं । भारतीय संस्कृति को जीवित रखने के लिए, लोक कल्याण के लिए इन उपदेशों का अक्षरशः पालन करना होगा । बिना ऐसा किये न भारतीय संस्कृति की सुरक्षा संभव है और न लोक कल्याण । लोक कल्याण की कामना से सुगोप्य तत्त्वों का भी उल्लेख उनकी कृतियों में उपलब्ध होता है—द्रष्टव्य श्री मन्दाक्रान्ता स्तोत्र का चतुर्दश श्लोक—

ऐन्द्रं स्थानं निजकरगतं मन्यते सार शून्यं,
शौल्कीं कान्तिं निज सुषमया शीतगोन्यंक्करोति ।
भर्गः सौरं तव चरणयो र्ध्यान माहात्म्यतोऽसौ,
लोको मातर्जयतिकरुणा प्रावृडम्भोज चिरो ।।

कल्याणमयी, करुणामयी पराम्बा का ध्यान करने से साधक देवराज इन्द्र से अधिक समृद्ध, चन्द्र से अधिक कान्तिमान् और सूर्य से अधिक तेजस्वी हो जाता हैं—यह कह कर श्रीमदाचार्यवर्य ने अपनी अहैतु की अनुकम्पा की वृष्टि द्वारा सारस्वत बीज, काम कला बीज और शक्ति बीज का उद्धार करके जो लोक कल्याण का मार्ग दिखाया है, वह उनकी असीम दया का ही परिचायक है ।

इस प्रकार यह निःसंकोच और दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि आचार्यश्री का अशेष जीवन लोक कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने में व्यतीत हुआ । उनका सारा दर्शन, समस्त स्तोत्र, सम्पूर्ण रचनाएँ और सभी उपदेशामृत लोक कल्याण के लिए ही प्रसूत हुए और उनसे भारतीय-संस्कृति और संस्कृत वाङ्मय का महान् उपकार हुआ ।

ऐसे परमोदार, परम पूज्य महामना के चरण युगलों में उनकी तृतीय पुण्य तिथि के पवित्र पर्व पर पुनः पुनः प्रणतिततिं ।

ब्रह्मभूतो विजयताम् आचार्योऽमृतवाग्भवः ।
लोक कल्याण कृन्मार्गो येन लोकाय दर्शितः ।।
"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदताम" शिवम्-अस्तु ।

—८६० बरकती नगर, जयपुर-१५

वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्

—डा० रघुनाथ शर्मा

परात्पर परब्रह्म पूर्णतम पुरुषोत्तम सजातीय-विजातीयस्वगत भेद शून्य, अभिन्न निमित्तोपादान, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ सर्वशक्तिसमन्वित परतत्व ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न साम्बशिव तत्व, गौर-श्यामतेजाद्वैत अथवा आत्मविलास है। इस परम दिव्य आत्मविलास से वह परतत्व रमणेच्छया अनन्तानन्त दिव्य लीला विलासों को प्रकट करता हुआ अमलात्मा, आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम परमहंसों का आत्मतोष हेतु बनता है। इन महापुरुषों का यह आत्मतोष निर्विकल्प समाधि अथवा भक्ति में स्वसंवेद्य परम सामरस्यरूप ही रहता है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुग परिचर्या प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजन विधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥

यह परमहंस महापुरुष उस परतत्व से अहैतुकी प्रीति करते हैं, अतएव उनकी सार्वकालिक अभिन्नतारूप नित्याद्वैत ही की स्थिति रहती है।

श्रोत्रिय–ब्रह्मविद्वरिष्ठ 'तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्'—न्याय से भगवदीय नित्यलीलाविलास का जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति एवं सुषुप्त्यातीत में एकरसरूप में अनुभव करते हैं। ऐसे ही परम भागवत सन्त, महात्मा, महापुरुष भगवदिच्छया भागवतांश से अवतरित होकर भगवदुद्देश्यसाफल्यार्थ धर्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा, विश्वशान्ति, जनकल्याणादि का अपने व्यक्तित्व, कृतित्वादि आदेशोपदेश देते हैं। वेदादि सच्छास्त्रप्रतियादित वर्णाश्रम मर्यादा की रक्षा, प्रचार एवं प्रसार करने वाले महापुरुषों की शृङ्खला, जिसने भारत के मानचित्र की रक्षा गत अर्धशताब्दी में प्राणपण से की, उसमें ब्रह्मीभूत धर्मसम्राट् अनन्तश्री यति चक्रचूड़ामणि स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ब्रह्मभूत जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर अनन्तश्री स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रम जी महाराज के पश्चात् "गणनाप्रसङ्" से अथवा "कथा प्रसङ्ग" से ब्रह्मीभूत अनन्तश्री स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज का मङ्गलमय नाम आता है। यह सभी महापुरुष ऋतम्भरा के धनी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हुए। इस कोटि के महापुरुषों के लिए सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होना आश्चर्य की बात नहीं; यह तो उनका भगवत्प्रदत्त सहज स्वभाव ही होता है।

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अमृतवाग्भवाचार्य जी (आचार्य स्वामी जी) महाराज के स्वतन्त्र, व्यक्तित्व एवं कृतित्व में धर्म, एवं धर्मशास्त्र (समाजशास्त्र) की त्रिवेणी में दर्शन होते थे। वह 'साधु-समाजप्रयाग' न्याय से स्वयमेव तीर्थराजथे यद्यपि विधि-निषेध की सीमा से उत्कृष्ट इन महापुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं था तथापि "लोक संग्रहमेवापि सम्पश्यन्" के गीतोपदिष्ट वचनानुसार लोकोपकार की दृष्टि से पुण्यभू भारतवर्ष में घूम-घूमकर धर्म एवं शास्त्ररक्षा का अमृतोपदेश देते रहते थे।

ईस्वीय वर्ष १९४९ में अपने बाल्यकाल में मुझे मेरे पूज्य पिताजी ने बुद्धिशुद्ध्यर्थ प्रसिद्ध 'सिद्धमहामन्त्र' (प्रभो ! शम्भो ! दीनम्-।) के जप का आदेश दिया। श्रद्धा एवं विश्वास से तब से अब तक यथासम्भव जप चलता ही रहता है। यह मन्त्र सशक्त, सजीव एवं महासिद्धिदायक है। सन् १९५९ में मैंने बी. ए. में प्रवेश लिया। वहाँ मेरे सहपाठी थे पूज्यवाद डा० भवानीशङ्कर जी त्रिवेदी के योग्यतम सुपुत्र पण्डित प्रवर श्री रवि शर्मा त्रिवेदी। 'प्रिन्सेसमैस'—इण्डिया गेट नयी दिल्ली स्थित श्री त्रिवेदी निवास में श्री स्वामी अमृतवाग्भवाचार्य जी के मङ्गलमय छाया-चित्रों का दर्शन सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनसे श्री स्वामी जी की पुण्यमयी गौरवगाथा का श्रवण सौभाग्य अनेक बार प्राप्त हुआ। श्री त्रिवेदीनिवास अब मोतीबाग में चला गया। परम भागवत सुमित्रवर्य श्री रवि त्रिवेदी जी के कारण मोतीबाग जाना प्रारम्भ हुआ। इधर श्री चरण भी अपने दिल्ली प्रवास काल में प्रायः मोतीबाग स्थित अपने अनन्य-प्रिय-भक्त श्री सीताराम जी ठाकुर के निवास पर ही रहने लगे। श्री रवि त्रिवेदी जी ने मुझ से श्री चरणों के दर्शन का आग्रह किया। बालकपन से अत्यन्त उत्कृष्टकोटि के महापुरुषों के आदेशोपदेश श्रवण से निम्नकोटि के महात्माओं में श्रद्धा जाग्रत ही नहीं होती थी। अतएव मैं श्री रवि भाईजी के अनुरोध को टालता रहा। संभवतः सन् १९६५ की बात होगी, उन दिनों मैं रामजस कालिज दिल्ली में प्राध्यापकपद पर नियुक्त था, कि एक पुण्य दिवस पर मै श्री रवि भाई के दर्शनार्थ मोतीबाग उनके निवास पर गया। पता चला कि श्री आचार्यचरण उस दिन उन्हीं के यहाँ पधारने वाले हैं। कुछ क्षण प्रतीक्षा के पश्चात महाराज श्री पधारे और मुझे प्राप्त हुआ प्रथम दर्शन का सुअवसर। लध्वाकार में दिव्य प्रकाशपुञ्ज, गौरवर्ण, मुख पर दिव्य सौम्यभाव, मेघ-गम्भीर-वाणी; ऐसा प्रतीत होता था मानो शान्तरस उस दिव्य व्यक्तित्व में विग्रहवान् हो गया हो। मै अपने आसन से उठा और अकस्मात् महाराजश्री के पादपद्म में जा पड़ा। मानो रङ्कने महा-निधि प्राप्त करली हो। मेरे चरण स्पर्श कर लेने पर महाराज श्री ने अपने श्रीचरण खींच लिए और मुझे भविष्य में ऐसा न करने का आदेश दिया। वह प्रायः अपने चरण स्पर्श नहीं करने देते थे। तदनन्तर महाराज श्री ने अपना अमृतोपदेश दिया। कौन अभागा ऐसे श्रीचरणों में श्रद्धानत न होगा ? तदनन्तर दर्शन और सत्संग का क्रम चल पड़ा। उनके व्यक्तित्व में चुम्बकत्व था, आकर्षण-शक्ति किंवा दिव्य सम्मोहन शक्ति थी।

अनन्तशक्ति स्रोत श्री चरणों का दर्शनार्थी यह शरीर बार-बार मोतीबाग जाकर अमृतोपदेश श्रवण करता था। कभी-कभी श्री जी महाराज श्री रवि त्रिवेदी जी के साथ हमारे निवास स्थान पर स्वयमेव आ जाते थे। वह तो जङ्गमतीर्थ थे। इस शरीर को भगवत्पूजा परिवेश में देख बहुत प्रसन्न हुआ करते थे। मेरे पूज्य पिताश्री पं. श्री ज्ञानचन्दजी शर्मा शीतकाल में प्रायः शीतकोप से अस्वस्थ रहा करते हैं। महाराजश्री जब-तब पूज्य पिताजी को देखने तथा आशीर्वाद प्रदानार्थ भी घर पर चले आते थे। पूज्यपाद श्रीजी महाराज एवं पूज्यपाद पिताजी में शास्त्रचर्चा एवं भगवच्चर्चा परमानन्द का विषय रहती थी। जो फल अथवा दक्षिणा भेट की जाती, शुद्ध-साधुरूप से स्वीकार

करते थे। उन महापुरुष के निच्छल व्यवहार से भगवान् आद्य जगद्गुरु शङ्कराचार्य के दादागुरु गौडपादाचार्य ("गौडपदं महान्तम्") के माण्डूक्योपनिषदभाष्य में वर्णित तत्त्वदर्शी महापुरुष का दर्शन होता था। यति को प्रशंसा, प्रणाम एवं स्वधाकार (पितृकर्म) से रहित होकर चल (विनाशशील देह) और अचल (तुरीयतत्व में ही विश्राम करने वाला होकर यादृच्छिक (अयाचित-वृत्ति, अनायास प्राप्त वस्तु से सन्तुष्ट रहने वाला) होना चाहिए--

"निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥"

(मा. का. २.३७)

इस तत्वज्ञ महापुरुष के दिव्य स्वरूप का वर्णन किंवा स्वात्मनिरूपण श्री जी महाराज ने स्वयं ही अपने "आत्मविलास" में भी किया है कि स्वात्मविलास (तत्वपरिनिष्ठित भाव) से समस्त क्रियाकलाप को करता हुआ दीपवत् साक्षीमात्र यह (तत्वीभूत) व्यवहार प्रवृत्त होता है--

"स्वविलासेन सर्वाणि कुर्वन्कर्माणि सर्वदा ।
दीपवत्साक्षिमात्रोऽयं व्यवहाराय कल्पते ॥"

(आ. वि. ५.१४)

महाराज श्री आत्मविलास (३.१.५) के अनुसार अद्वैततत्व में निष्णात जीवन्मुक्तों के लिए 'न्याय्यम्' अथवा "विपरीतम्" बन्धन का कारण नहीं होते--

"अद्वैततत्त्वविज्ञाननिष्णातानां कथं भवेत् ॥"

यदि यह कहूँ कि पूज्यपाद श्री जी महाराज पूर्वोद्धृत माण्डूक्य कारिका (२.३७), आत्मविलासोद्धृत (५.१४-१५) आदि वचनों में स्वयंमेव धृतविग्रह-भाष्य थे, तो अत्युक्ति न होगी।

समाज शास्त्र एवं धर्मशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् पूज्यपाद श्री जी महाराज ने अपनी लौह लेखिनी से राष्ट्रालोक की रचना करके आदर्श शासन पद्धति का वर्णन किया। आधुनिक शासन, शासक एवं राजनीतिक दलों की प्रशासन पद्धति से श्रीचरण असंतुष्ट थे। शासन के द्वारा धर्म, वर्णाश्रम मर्यादा, नीतिशास्त्रानभिज्ञता, भ्रष्टाचार, अत्याचार, अनाचार, पापाचार, दुराचार तथा गोवंश हत्या की श्रीचरण खुले शब्दों में निन्दा करते थे। 'धर्मनिरपेक्ष' शासन पद्धति के दोषों एवं न्यूनताओं को स्पष्ट करते हुए श्रीचरण "धर्म सापेक्ष्य पक्षपातविहीन" शासन पद्धति का समर्थन करते थे। यही नीतियाँ उनके "राष्ट्रालोक" में मूलतन्त्र के रूप में मुखरित हुई।

कृतघ्नता महा पाप है। श्रीचरण कृतघ्न की निन्दा करने की अपेक्षा उनके प्रति सार्वकालिक औदासीन्य पर बल देते थे। उनके ही चरणरज से ज्योतिषशास्त्र में अबाध गति प्राप्त कर उनके कतिपय शिष्य उनसे विमुख हो गए, महाराजश्री ने मृत्युपर्यन्त उनका नाम भी नहीं लिया--"औदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृत्यताम् ।" (शङ्कराचार्य विरचितम्, साधनपञ्चकम्, ४)।

श्रीमद्भागवत (५.५.२) में महापुरुष का लक्षण इस प्रकार किया गया है--समचित्र, प्रशान्त, विमन्यु, (सर्व) सुहृद तथा साधु ही महान् हैं--"महान्तस्ते समचिताः प्रशांन्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।" भागवत माहात्म्य में साधुमहापुरुषों के दर्शन को उत्कृष्टतम सर्वसिद्धि साधन स्वीकार किया गया है--"साधूनां दर्शनं लोके सर्वसिद्धिकरं परम्।" तथा इन साधुओं को ही कर्म प्रवक्ता माना है--"तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः।" इन शास्त्रवचनों के अनुरूप श्री-चरण अपनी शिष्य मण्डली एवं भक्तमण्डली को आवश्यक विधि-निषेधादि का उपदेश देते रहते थे। वर्णाश्रम मर्यादानुसार नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना का अधिकार भेद से उपदेश करते थे। कर्तव्याकर्तव्य विपर्यय अनन्त कष्ट का हेतु होता है--'मक्षिकापादमात्रं तु यथा हि विषमं विषम्। विक्रिया विहिताल्पापि विपाके दारुणा तथा।" इस प्रकार के विधि-निषेधादि का प्रतिपादक श्रीचरणों का आदेशोपदेश श्रीविद्वद्वरकलं राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान के संविधान में उन्हीं के हस्ताक्षरों में सुरक्षित भी है। "ऐसा करो, अवश्य ही लाभ होगा····ऐसा करना पाप है इससे हानि अवश्य होगी।" इस प्रकार के स्पष्टोक्तिपूर्ण वचन उनकी भक्तमण्डली के काले-काले कथाप्रसङ्गेन सम्प्राप्य संस्मरणों में बाहुल्येन सुरक्षित हैं। मेरे चिरंजीवी अनुज श्री भोगीन्द्रनाथ शर्मा जी से श्री चरणों ने कहा था, "देखो तुम अपनी कष्ट निवृत्यर्थ विधिवत् श्रीयन्त्र की पूजा-अर्चना आरम्भ करो। इसकी दीक्षा अपने स्वामीजी (स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी महाराज) से ले लो। इसमें ही तुम्हारा कल्याण है।" इस प्रकार के अनेकों श्रीवचन प्राप्त होते हैं। सन्ध्या, गायत्री, तर्पण, श्राद्ध शिखा-सूत्र, तीर्थाटन, साधुसंग आदि उनके उपदेश के प्रमुख विषय थे। वर्णाश्रम धर्मरक्षा उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अङ्ग था।

आचार्यचरण उत्तराखण्ड भूमि, गंगा-यमुना प्रदेश, तथा प्रयाग के अत्यन्त प्रशंसक थे अपने ब्रह्मीभूत होने से प्रायः तीन वर्ष पूर्व उन्होंने काशीवास की इच्छा प्रकट की। (श्री रवि त्रिवेदी जी से) पता चला कि महाराज श्री वाराणसी स्थित धर्मसम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी महाराज धर्मसंघ में रहने की इच्छा करते हैं। मैंने एतद्विषयक पत्र अ. भा. धर्मसंघ के उपाध्यक्ष अनन्तश्री स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी महाराज की सेवा में लिख भेजा। वह पत्र धर्मसम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी को दिखाया गया। उन्होंने तुरंन्त ही श्रीजी महाराज की समुचित व्यवस्था का आदे[श] दे दिया। यह पूछे जाने पर कि श्रीजी महाराज को कहाँ ठहराया जावेगा, पूज्यपाद धर्मसम्राट् बो[ले] "वे महापुरुष यहीं हमारे साथ रहेंगे।" किन्ही व्यक्तिगत कारणों से श्रीजी महाराज बाराणसी न [जा] सके, परन्तु महापुरुष मण्डली में उनका क्या स्थान था इसका संकेत इस घटना से प्राप्त होता है।

अपनी महायात्रा के स्पष्ट संकेत प्राप्त हो जाने पर पूज्यपाद श्रीजी महाराज ने भक्तमण्ड[ली] को दिल्ली में आदेश दिया अन्त में उनके शरीर को संन्यासविधि से इस शरीर की देखरेख में भगव[ती] भागीरथी की गोदी में जलसमाधी दी जावे। मुझे मेरे उत्तरदायित्व की सूचना मिली, दर्शनार्थ मो[ती] बाग गया तब भी यही आदेश। भारतवर्ष का अत्यन्त उत्कृष्टकोटि का सन्यस्त-महापुरुष इस श[रीर] पर इतना विश्वास कर इतना बड़ा कर्त्तव्य सौंप रहा है, यह मेरे लिए गम्भीर चिन्तन तथा जाग[रूक] रहने का सुअवसर था।

महाराज श्री ने जम्मू के पण्डितराज डा. बलजिन्नाथ की देखरेख में श्री पीठ की स्थाप[ना]

जयपुर के विद्वद्वरेण्य श्री पं. दुर्गादत्त जी शर्मा की अध्यक्षता में श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थानादि के अनुरूप दिल्ली में धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए श्री विद्वरकल राधा-कृष्ण धार्मिक संस्थान की स्थापना की। संस्थान का प्रारूप अग्रवालबन्धु श्री राजकुमार अग्रवाल एवं श्री रत्नलाल अग्रवाल (जैन) ने बनाया! श्रीचरणों के आदेश से प्रारूप को धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिवेश देने का कार्यभार इस शरीर पर पड़ा। संविधान का संशोधित प्रारूप श्रीचरणों के समक्ष प्रस्तुत हुआ। महाराजश्री इस बार संविधान से सन्तुष्ट हुए तथा उसे अपने पवित्रतम हस्ताक्षरों से सनाथ किया। इस संस्था की अध्यक्षता का गौरव साधुस्वरूप पं. श्री देशराज जी शर्मा को प्राप्त हुआ।

शनैः शनैः श्रीचरणों का शारीरिक स्वास्थ्य गिरने लगा। महा प्रयाण का काल निकट आ गया। श्रीचरणों ने तत्काल गोदान की इच्छा प्रकट की। गादान लेने वाला ब्राह्मण तथा गाय दोनों के अभाव में श्रीचरणों ने कुशाका ब्राह्मण बनाकर संकल्प करके एक हजार रुपये उस कुशा पर रख दिए। मृत्युञ्जय जप का भी आदेश दिया। इस प्रकार की थी श्रीचरणों की गोब्राह्मण एवं शास्त्र निष्ठा।

अन्तिम दिन निकट आ गए। स्वास्थ्य में और गिरावट आ गयी। मुझे सूचना मिली मैं अपने पूज्य पिताजी के साथ मोतीबाग में श्री पं. देशराज जी के घर गया। महाराज श्री वहाँ नहीं थे, उन्हें उसी दिन मूलचन्द अस्पताल में उपचारार्थ ले जाया जा चुका था। हम वहां से अस्पताल पहुँचे। श्रीचरणों की दशा देख धक्का लगा। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। श्रीचरण परम विरक्त सर्वसन्यस्त महापुरुष थे। उन्हें "शाम्भवयोगदीक्षा" महर्षि दुर्वासा से प्राप्त हुई थी। वह शरीर, दिव्य शरीर अस्पताल में जाने वाला नहीं था। तो भी वहां के संस्कार वहीं पूरे होने थे। डाक्टरों से विचार विमर्श किया गया। श्रीचरण अपनी लोकयात्रा के अन्तिम चरण में दिल्ली उच्च न्यायालय प्रांगण में स्थित श्री रत्नलाल जी अग्रवाल (जैन) के निवास स्थान पर पधारे।

कथा, कीर्तन, शास्त्रपाठादि से वह स्थान गुञ्जायमान हो उठा। इस सबके एकमात्र थे श्रोता श्रीचरण पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज। वह महायोगी शरीर से अलग, जीवन्मुक्त स्थिति में थे। कभी निर्विकल्प समाधि में रत तो कभी क्रियमाण भागवतादि पुराण श्रवण में संलग्न। कभी समाधिजन्य परमानन्द प्राप्ति से नेत्र निमीलन तथा कभी भगवत्कथाजन्य हर्षातिरेक एवं रोमांच से नेत्रोन्मीलन। वह परमरसज्ञ रसार्णवसिन्धु में स्वयं ही परम रसरूप हो गया था—"रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।" अपने ही शब्दों में वह "अपना-आप" हो गए थे। आत्मविलास का कर्ता स्वयं ही सर्वदा प्रत्यक्ष द्रष्टा चिन्मात्ररूप, अहंरूप तुरीय शिव, शान्त एवं अद्वैतरूप हो गया था -

"साक्षी चिन्मात्ररूपोऽहम्परमात्मा परः शिवः।
कर्तृताकर्तृताऽस्पृष्टः पूर्णकर्ता जयत्यसौ ॥"

(आ. वि. ६. १)

उस नित्यमुक्तावस्था में श्रीचरण शरीर कम तथा शरीरी अधिक हो गए थे। आत्मविलास का कर्ता स्वयमेव स्वयमेव दिव्य लीला सम्बलित परमात्मस्वरूप अथवा साम्बशिव स्वरूप हो गया था। वर्णनकर्ता स्वयं ही वर्ण्यतत्व हो चुका था। जिन्हें उन दिनों अथवा उन विलक्षण क्षणों में श्रीचरणों के दर्शन का सौभाग्य मिला, वह धन्य हैं।

भीष्म पितामह की भांति पूज्यपाद श्रीचरण अपने महाप्रयाण के लिए शुभ समय की खोज में थे। कार्तिक शुक्लपक्ष नवमी (ईस्वीय सन् १९८२) के दिन महायोगी ने अपनी लोकलीला का संवरण किया। महारिक्तता आ गयी। धर्म एवं दर्शन शास्त्र का तत्त्वज्ञ सूर्य अस्त हो गया। मन को धक्का लगा। आस्तिक सनातन जगत् की अपूरणीयक्षति हो गयी।

श्रीचरण अपने स्वरूप में लीन हो चुके थे, हो गये थे ब्रह्मीभूत। "वासांसि जीर्णानि" के न्याय से जीर्णवस्वरूप शरीर ज्यों का त्यों पड़ा था–"ज्यों की त्यों धरदीनी चदरिया।" अन्तिम शास्त्रीय संस्कारार्थ विधिवत् यामुनोदक से उस दिव्य शरीर का अभिषेक स्नानादि हुआ। कौपीन एवं गैरिक वस्त्र धारण कर, मस्तक को भस्मी से समलंकृत कर, पूजार्चना, आरती प्रदक्षिणा के पश्चात् "महा आशिक का जनाजा बड़ी धूम से निकला।" मेटाडोर गाड़ी में उस परम दिव्य शरीर के साथ परमादरणीय डा. पं. बलजिन्नाथ जी, पं. श्री रामरत्न जी, पं. श्री दुर्गादत्त जी, श्री ओम-प्रकाश गुप्त श्री पं. देसराज जी शर्मा, श्री पं. रवि शर्मा त्रिवेदी, ठाकुर रामसिंह जी, पं. सेवाराम जी शर्मा, श्री राजकुमार जी अग्रवाल, श्री रतनलालजी (जैन) अग्रवाल तथा यह शरीर दिल्ली से हरिद्वार श्रीचरणों की जलसमाधी के लिए, उन श्रीचरणों की अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए गये। अन्तिम पूजा संस्कार करने का सौभाग्य श्री पं. देसराज जी शर्मा का तथा सन्यासोचित वह संस्कार करवाने का सौभाग्य इस शरीर को प्राप्त हुआ। उस पार्थिव शरीर का गंगोदक से पुरुषसूक्त के मन्त्रों से अभिषेक, पूजा, आरती, शंख से कपालभेदन संस्कार एवं प्रदक्षिणा के अनन्तर गंगा माता की गोदी में जलसमाधी सम्पन्न हुई। जटाशंकरी में शंकर लीन हो गये। उस परमदिव्य महापुरुष का यह पावन आख्यान पद्मपुराण के वचन––

"रागापहं पातकनाशकृत्परं सुबुद्धिदं
पुत्रधानादि साधकम् मुक्तेनिदीनम्""।।"

के अनुरूप परम कल्याणास्पद है। जिनको इस प्रकार के महापुरुषों के दर्शन, स्पर्श तथा भाषण का सुअवसर प्राप्त हुआ वह पुण्यशाली हैं––

'यः पुण्यकर्मिणां कुर्याद्दर्शनस्पर्श भाषणम्।
ततः षडंशमाप्नोति पुण्यस्य नियतं नरः।।

तथा उन्हीं का सुख शाश्वत है–"तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्।"

इस प्रकार के उन पुरुषोत्तम स्वरूप अनन्तश्री ब्रह्मीभूत स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी का गुणानुवाद वर्णन सामर्थ्य किसमें है। अनन्त का अन्त कौन पा सकता है। वाचाल, मैं, मूक होकर उन श्रीचरणों में प्रणामात्मिका भाव कुसुमांजलि समर्पित करता हुआ इतना मात्र ही कह पा रहा हूँ––

"वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।।"

२६३–कोहाट एन्क्लेव
प्रीतमपुरा–दिल्ली-३४

परिव्राजक बाबा और भक्तजन

— ले० श्री गिरिराजशरण गुप्त

पूज्यपाद बाबा एक उत्कृष्ट तपस्वी योगी और सिद्धात्मा महापुरुष थे। अनेक देवी-देवताओं, तीर्थराजों सिद्ध महापुरुषों आदि से साक्षात्कार–सम्पर्क–सान्निध्य लाभ करते हुए भी वे सदैव चरैवेति—चरैवेति के सिद्धान्त का पालन करते हुए निर्लिप्त परिव्राजक ही बने रहे।

हरिद्वार, ऋषिकेश, देहरादून अमरनाथ, शारदापीठ, शैलपुत्री, शारिका, साधुगंगा, मार्तण्ड, कारकोट नाग आदि अनेक तीर्थस्थान उनके आकर्षण केन्द्र एवं भ्रमण स्थल रहे। कांगड़ा मंडल में विचरते हुए जालंधर पीठ की भी उन्होंने यात्रा की। भारत विभाजन के पूर्व मुजफ्फराबाद तदनंतर स्यालकोट, जम्मू, तथा बाद में सोलन, कोटि, अमृतसर, लाहौर, लायलपुर, रोपड़, सुहाना, नाहन, कालका, आदि अनेक स्थानों के अलावा नालागढ़ में भी वे काफी समय रहे। राजस्थान में कभी-कभी जयपुर भी उनकी चरण रज से पुनीत-धन्य हुआ। भरतपुर तो एक प्रकार से उनका स्थायी पता बन जाने का सुयश लाभ कर धन्य हो गया।

बाबा एक स्थान पर अधिक दिन नहीं ठहरते थे। कभी-कभी तो अकस्मात् इस प्रकार स्थान छोड़ कर चल देते कि भक्त साश्चर्य देखता रह जाता। ऐसे ही सन् १९४० में एक बार सोलन राज परिवार के यहां से अनायास चल दिये और उनके अनेकानेक अनुनय विनय के पश्चात् भी नहीं रुके। जहां भी वे ठहरते वह स्थान तीर्थ बन जाता था।

आश्रम भवनादि के संबंध में जब भी कोई बात चलाई जाती तो बड़ा निस्पृह उत्तर होता—एक घर छोड़ कर दूसरा बनाने से क्या लाभ? घर ही बसा कर रहना था तो वह पैतृक घर ही क्या बुरा था, क्या कमी थी वहाँ?

पू० बाबा के भक्तों एवं प्रियजनों की संख्या अनगिनत रही है और अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनके भिन्न-भिन्न सम्बोधन रहे हैं।

"श्री स्वाध्याय" के प्रथमाङ्क के अनुसार पू० बाबा अपने पत्रों में हस्ताक्षर के स्थान पर मात्र "आनन्द" लिखा करते थे। कुछ आपके चिर परिचित मित्रों से प्राप्त पत्रों में उन्हें व्याकरणाचार्य, 'काव्यतीर्थ', 'साहित्यतीर्थ', 'सर्वतंत्र स्वतत्र' आदि अनेक उपाधियों से संबोधित अलंकृत किया जाता रहा वे स्वयं इनका उपयोग नहीं करते थे। स्व० प्रो० आपटे साहब ने आपकी विद्वत्ता और कवित्व शक्ति से प्रसन्न होकर "राजकवि" की उपाधि से भी सम्मानित किया था। किन्तु पू० बाबा वीतराग महात्मा थे अतः इन सब से परे रहे।

हिमाचल प्रदेश तथा इसके निकटवर्त्ती क्षेत्र के अनेक शासक एवं राज-परिवार पूज्य बाबा के शिष्य एवं भक्त रहे हैं। राजा साहब श्रीमान्

दुर्गासिंह जी सोलन—"श्रीमान १०८ ब्रह्मचारीजी महाराज" तथा महारानी साहिबा सिरमौरी बघाट राज्य "श्रीमान पूज्यपाद श्री १०८ श्री गुरुदेव या गुरु महाराज", नालागढ़ के भक्तगण "पूजनीय श्री १०८ श्री गुरुदेव" कह कर सम्बोधित करते रहे वहीं, कांगड़ा आदि कुछ स्थानों से "पूज्यपाद आचार्य श्री महाराज" और ज्वालामुखी आदि से "श्री १०८ पूज्यपाद ब्रह्मचारी जी आनन्द जी महाराज, ववन (काश्मीर) से "ईश्वरस्वरूप स्वामीजी" भादून श्रीनगर से "श्रीमान ब्रह्मचारी जी" सम्बोधन लिखते रहे। पंजाब क्षेत्र के भक्तजन बहुधा "पूज्य स्वामी जी" या "श्री महाराज जी" आदि सम्बोधनों से और भरतपुर, अलवर, जयपुर आदि क्षेत्रों से "बाबा महाराज" कह कर सम्बोधित करते रहे और बाबा शब्द में जो भी श्रद्धा सम्मान, स्नेह, निजत्व–अपनत्व का भाव सन्निहित है, ठीक वही भाव इधर के परिवारों के प्रत्येक जन-जन के मन में भी सदासर्वदा व्याप्त रहा है।

सभी भक्त जन अपने पत्रों में अपने दुःख-दर्द पारिवारिक क्लेश, मानसिक संताप के अतिरिक्त आध्यात्मिक उन्नति हेतु पथ–प्रदर्शन की प्रार्थना भी करते रहे और कुछ लोग तो उनके दर्शनों के लिये इतने भारी आकुल–व्याकुल हो उठते थे कि एक महानुभाव ने ववन (काश्मीर) से लिखा–तुम्हारे दर पै बैठा हूँ—तो दर्शन क्यों नहीं देते? इसी प्रकार कुछ लोगों ने नालागढ़ से लिखा—"हमारी आशाओं की निधि अब तो प्रतीक्षा की सीमा हो चुकी है। दर्शनाभिलाषी नेत्र रास्ता तकते-तकते पथरा गये हैं, नहीं सहा जाता प्रभो! अब नहीं सहा जाता विरह दुःख।" काकापुर से एक भक्त ने लिखा—"प्रभो। हमसे तुमको बहुत मिलत हैं, तुमसे हमको नहीं।" डॉ० श्री नाथतिक्कू अपनी सुललित संस्कृत भाषा में गद्य–पद्य में पूज्य बाबा के समक्ष अपना समस्त हृदय उड़ेल देते रहे।

इसके अतिरिक्त बाबा जिन पर कृपा करते उनकी बात भी बन जाती थी। एक बार देवराज से एक भक्त ने लिखा—

"मुझे अफसोस है कि मैं आपके दर्शन नहीं कर सका। ······ मैं एकांत देख कर आसन पर बैठ गया। वहां ऐसी टेर लगी कि ना मालूम कहाँ-कहाँ की सैर करता रहा। जब चैतन्य हुआ तो दिन थोड़ा रह गया, शरीर कुछ शिथिल मालूम हुआ। इसलिये मैं नहीं आ सका।········आपकी मेहर की नजर मेरे लिये सब कुछ है।·······" श्री पं० गोविन्द जी मिश्र का "अपने जियसौं जानिये मेरे जिय की बात" लिखना अपने "बाबा" के "स्व" स्वरूप होने की ओर संकेत करता है।

आज भी योंतो, भरतपुर, जयपुर, जम्मू, काश्मीर, सोलन, सुहाना, पंजाब, हरियाणा तथा दिल्ली आदि नगरों में उनके अनेक भक्त एवं प्रियजन हैं किन्तु भरतपुर निवासी स्व० श्री पं० गोविन्द जी मिश्र जो, योग तंत्र–मंत्र–ज्योतिष एवं कर्मकाण्डादि के प्रख्यात विद्वान थे, पू. बाबा के सर्वाधिक विश्वासपात्र, निष्ठावान् और अभिन्न अंग थे। उनका सम्पूर्ण जीवन पूज्यपाद अनंत श्री बाबा महाराज के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित था। बाबा का स्थायी पता भी द्वारा श्री पं. गोविन्द जी मिश्र चौबुर्जा, भरतपुर रहा। बाबा की अमर कृतियों में स्व. मिश्रजी के लिये जो भावपूर्ण श्लोक दिया है वह बाबा की परम आत्मीयता का परिचायक है। अतः उनके देहावसान का समाचार सुन कर पूज्य बाबा अत्यधिक विचलित हो उठे और जैसे स्वामी समर्थ-रामदास अपने प्रिय शिष्य छत्रपति शिवाजी के देहावसान के छह माह पश्चात ही शरीर छोड़ गये, ठीक उसी प्रकार आचार्य श्री बाबा महाराज भी श्री गोविन्द जी मिश्र के देह त्याग के छह माह पश्चात् ही ब्रह्मभावस्थ हो गये।

परम पूज्य देवाधिपति देव! आपका सर्व जय-जय-कार हो। □

बाबा के अभिन्न हृदय : पं० गोबिन्दजी मिश्र

— सिया राम गर्ग

परम पूज्य बाबा महाराज स्वयं तो पारस थे ही, वे जिस किसी सुपात्र को स्पर्श कर देते वह भी पारस बन जाता था। ऐसे उदाहरणों में पूज्य पंडित जी स्व. श्री गोविन्द जी मिश्र का उदाहरण विशेष उल्लेखनीय है।

पू० बाबा जहां भी प्रवास करते वहां उनके अनेकानेक परिचित प्रेमी भक्त जन होते रहे। किन्तु उनमें भरतपुर निवासी श्री पं० गोविन्द जी मिश्र पूज्यपाद श्री बाबा महाराज के अनन्य अंतरंग अभिन्न हृदय थे। उनके बीच लगभग पचास पचपन वर्ष से अधिक का समय परस्पर परिचय एवं घनिष्ठ संबंधों का रहा। वे दो शरीर एक आत्मा थे। पं० गोविन्द जी ने भी अपने देह त्याग से पूर्व कहा था—कि उनकी अस्वस्थता की इस स्थिति का समाचार पू० बाबा को नहीं दिया जाय अन्यथा पू० बाबा को बड़ा कष्ट होगा और इसीलिये उन्हें उक्त स्थिति की सही सूचना नहीं दी गई। पू० बाबा के प्रति उनका अगाध प्रेम था और बाबा की उन पर अपार अहैतुकी कृपा थी।

बाबा की भांति ही पं० गोविन्द जी दूसरों के दुःख से बड़ी जल्दी द्रवित हो उठते थे और वे दूसरों को पूजा-पाठ, भगवत्साधना करने की प्रेरणा देते रहा करते थे। साधना संबंधी विभिन्न चरित्रों का वर्णन और कथायें बड़े रोचक ढंग से सुनाया करते थे।

एक बार जब पू० बाबा अपनी साधना में व्याघात नहीं पड़े इस दृष्टि से अज्ञातवास में चले गये। पर्याप्त समय निकल गया और किसी को कहीं कोई अता पता नहीं लगा तब श्री पं० गोविन्दजी ने "श्री स्वाध्याय" के माध्यम से अपनी करुण पुकार उन तक पहुंचाने का प्रयत्न कर दर्शन देने की प्रार्थना की—

आनंद सिंधु छिपे हो कहां, हम दासन हूं की प्रभो सुधि लीजिये
नाथ दया करिये अब तो, शरणागत जान सुदर्शन दीजिये।
भूल हि चूक क्षमा करिये वर आत्मस्वरूप हमें लख रीझिये
व्यापक ब्रह्म परात्पर हो, निज आनद सो परिपूरन कीजिये।।

—आपका अपना आप—

कितनी करुणा और साथ ही कितनी अभिन्नता का गूढ़ भाव है उक्त पंक्तियों में, और उसके पश्चात् बाबा प्रगट हो गये।

श्री गोविन्द जी मिश्र को श्रीविद्या की दीक्षा भरतपुर नदिया निवासी श्री पं० जगन्नाथ जी ज्योतिषी जी द्वारा दी गई थी जिसकी उपासना वे बड़े तन्मयता एवं लगन से करते रहे थे। श्रुति सरस्वती की सिद्धि के परिणामस्वरूप वे जो कुछ एक बार पढ़ लेते या सुन लेते थे उन्हें याद हो जाता था।

किंतु श्री बाबा ने आध्यात्मिक रूप से पं० गोविन्द जी को अपनी विशिष्ट अहेतुकी कृपा से अनुगृहीत किया। फलस्वरूप उनकी बौद्धिक प्रतिमा का विकास होकर अनेकानेक ग्रंथों का ज्ञान उनको स्वयं हो गया। इसके अतिरिक्त अनेक मंत्र–तंत्र एवं साधन–सिद्धियां भी प्राप्त होती गईं।

यही नहीं जैसा कि श्री कृष्ण ने अपने अनन्य भक्त अर्जुन को गीतागत उपदेश किया। ठीक उसी प्रकार श्री आचार्य चरणों का कृपा प्रसाद रूप तत्वोपदेश—"श्री विंशतिका शास्त्रम्" ग्रंथ श्री मिश्र जी के प्रबोधन के लिये ही रचा गया था। जैसा कि उक्त ग्रंथ की अंतिम कारिका में भी पू० बाबा ने स्पष्ट लिखा है—

"आर्य गोत्र समुद्भूतमिश्र गोविन्द शर्मणः।
बोधार्थं निर्मितं शास्त्रमेतज्जानन्तु पण्डिताः॥

इस संबंध में डा. फतहसिंह जी ने अपनी प्रस्तावना में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "श्रीमन् अमृतवाग्भवाचार्य ने, प्राचीन परम्परा के अनुसार यह शास्त्र अपने शिष्य के लिये लिखा है। शिष्य वह है जो सिखाया जा सके, जो सिखाने योग्य हो या जो इस शास्त्र को ग्रहण करने के लिये सर्वथा सुपात्र और अधिकारी हो। शिष्य की यह योग्यता या पात्रता उसी जिज्ञासु में आ सकती है जो आचार्य का अन्तेवासी बन कर उसके आचरण और शील को अपने जीवन में उतारने के लिये प्रयत्नशील हो। आचार्य तो अध्यात्म विद्या ऐसे ही शिष्य को देते आये हैं क्योंकि अन्यों के लिये यह समझ के बाहर की वस्तु हैं।"

देव–कृपा से पं० गोविन्द जी मिश्र को पूर्व–जन्म का प्रत्यक्ष ज्ञान लाभ हुआ था।

एक बार श्री पं० गोविन्द जी भरतपुर से रेल द्वारा दिल्ली सपत्नीक जा रहे थे। जिस डिब्बे में वे बैठे थे उसी में उनके सामने वाली सीट पर एक 80–85 वर्षीय साधु भी बैठा हुआ था। वह नेपाल में कहीं रहता था। कुछ दूर चलने पर वह इनकी पत्नी को देख कर रोने लगा। इनके पूछने पर उसने कहा—आप दोनों ही मेरे पूर्व जन्म के माता–पिता हैं और आपकी खोज में, मैं भरतपुर भी होकर आया हूं। वह साधु भी दिल्ली में ही उतर गया। तब मिश्र जी उसे अपने साथ जहां वे स्वयं ठहरे हुए थे वहीं ले गये। वहां अपने साथ ही ठहराया। वहां पहुंचने पर श्री मिश्र जी ने उसको परखने की चेष्टा की तब दूसरे दिन उसने इनको अपने पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष भी ज्ञान कराया।

परदुःख कातरता, निष्काम सेवा व उनकी समुच्च आध्यात्मिक स्थिति के सन्दर्भ में निम्नाङ्कित दृष्टान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्री मिश्रजी के एक अनन्य मित्र भरतपुर में कपड़े का व्यवसाय करते थे। उन्हें कोई शरीर पीड़ा थी जो पर्याप्त उपचारादि के उपरांत भी शांत नहीं हो रही थी। भौतिक साधन से निराश होकर मित्र ने मिश्र जी से निवेदन किया। मिश्र जी ने द्रवित होकर एक अनुष्ठान बताने का संकल्प किया। इससे पूर्व कि मिश्र जी उक्त संकल्प को कार्य रूप देते उस दिन मिश्रजी मध्यान्ह का भोजन कर विश्राम करने लगे। विश्राम के मध्य उन्हें तन्द्रा लग गई। अपरान्ह वे अपने नित्यक्रम में लग गये। आश्चर्य मित्रवर मिश्र जी के पास आये और अपनी शंका का समाधान करना चाहा। मिश्र जी स्तब्ध और कहने लगे कि भाई मैंने तुम्हारे रोगशमन के लिये एक अनुष्ठान का विचार मात्र किया था अभी बताया कहाँ है? इस पर मित्रवर प्रेम भरी नाराजगी में बोले। अब आप बनाते हो। आज दोपहर में ही आपने मेरे घर आकर स्वयं मुझे अनुष्ठान की विधि ही नहीं समझाई अपितु पूजनादि कर संकल्प भी कराया था। अब तो मात्र छोटी सी शंका मात्र रह गई है इसका निवारण करें।

अस्तु मिश्र जी ने मन ही मन इस घटना पर साश्चर्य विचार किया और अपने देह त्याग के कुछ ही वर्ष पूर्व एक चर्चा के दौरान इसका जिक्र अपने किन्हीं अभिन्न से किया। यह अभूतपूर्व घटना श्री मिश्र जी के संकल्प मात्र से एकाधिक शरीर धारण कर कार्य सम्पादन करने का अलौकिक उदाहरण है।

इसी प्रकार उनके एक अजमेर निवासी भक्त असाध्य शरीर पीड़ा से ग्रस्त थे। उन्हें भी श्री मिश्र जी ने मात्र निष्कपट एवं सम्पूर्ण समर्पण भाव से की गई प्रार्थना के आधार पर ही अजमेर कुछ दिन निरंतर पूजनादि अनुष्ठानादि कराकर रोग मुक्ति दिलाई। ज्ञातव्य है कि मिश्र जी को इसके उपरांत भक्त के श्रद्धासुमन रूपी पत्र से ही यह ज्ञात हुआ। इनके इस शरीर के मनोमय रूप से उनके एक भक्त का प्रभु ने कल्याण किया।

यह घटना पूर्वोक्त घटना से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यहां भरतपुर–अजमेर के मध्य लगभग दो सो मील का फासला है।

ऐसे सिद्ध पुरुष को भावी घटनाक्रम का पूर्व ज्ञान होना सहज ही है। दिल्ली निवासी श्री महेन्द्र शर्मा के अनुसार पंडित जी ने अपने देह त्याग की तिथि एवं समय की भी जानकारी दस दिन पूर्व दे दी थी।

उपरोक्त घटनाओं का वर्णन करने का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि न केवल बाबा महाराज अपितु उनके कुछेक भक्त भी अलौकिक सिद्धि सम्पन्न एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में अनूठी सम्पदा से संपन्न रहे। ऐसे पूज्य बाबा महाराज एवं उनके सभी भक्त शिष्य एवं परिचित प्रिय जनों को सादर प्रणाम करते हुए विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित है।

बी–३१४–जनता कालोनी
जयपुर

———

❋ परम पूज्य श्री बाबा महाराज ❋

—ले० अरुणेश कुमार शर्मा

पूज्यपाद श्री बाबा महाराज एक महान तपस्वी, संस्कृत–साहित्य व आगम–निगम के प्रकाण्ड विद्वान, ज्ञान, योग एवं दर्शन के क्षेत्र में जाज्वल्यमान सूर्य थे। उनके व्यक्तित्व का निर्माण पराशक्ति के माध्यम से हुआ था और इसीलिये अध्यात्म व पुरुषार्थ के धरातल पर बहुमुखी प्रतिभा के धनी परमसिद्ध पू० बाबा महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व के विभिन्न आयामों को शब्दों से नहीं नापा जा सकता।

पू० बाबा को परम्परा से ही "श्री विद्या" की साधना प्राप्त थी। उनको सोलह वर्ष की किशोरावस्था में ही भगवान दुर्वासा की दुर्लभ कृपा प्राप्त हुई, साक्षात् दर्शन हुए और प्राप्त हुई—परिपूर्ण शाम्भव-योग-दीक्षा।

श्री बाबा महाराज उस समय भगवान दुर्वासाकृत राज-राजेश्वरी भगवती श्री त्रिपुर सुन्दरी के "त्रिपुरा महिम्नस्तोत्र" का पाठानुष्ठान रात्रि को बंद कमरे में किया करते थे। प्रकाश के लिये तैल का दीपक जलता रहता था। पाठानुष्ठान की अंतिम रात्रि को जब सर्वत्र प्रगाढ़ निद्रा का साम्राज्य था, नीरव शांति थी, पू० बाबा पाठ कर रहे थे, अनायास ही महामुनीश्वर कोप भट्टारक भगवान दुर्वासा प्रसन्न हो प्रत्यक्ष में साक्षात् प्रकट हो गये।

बाबा को इससे पूर्व भी अनेक सिद्धपुरुषों ने अपना दीक्षित शिष्य बना अपनी उपलब्ध गुह्यातिगुह्य विद्या प्रदान करने का प्रयत्न किया था। किन्तु बाबा का संकल्प था कि वे किसी ऐ विशिष्ट महापुरुष का ही शिष्यत्व स्वीकार करेंगे, जिसने स्वयं साक्षात्कार किया हो और जो उन् भी पूर्ण सक्षात्कार करा सके।

अब जब करुणा के समुद्र दीन वत्सल भगवान दुर्वासा जी बाबा को कुछ निर्देश करने लगे पू० बाबा ने उनसे प्रश्न किया—आप कौन हैं? आपका परिचय? ऋषि दुर्वासा जी ने उत्तर कहा—मैं वही हूँ जिसके बनाये स्तोत्र का पाठ कर रहे हो।

शंका समाधान होने पर भगवान दुर्वासा ने बाबा को एक विशेष मुद्रा में बैठने का नि कर उत्कृष्ट शाम्भव योग की दीक्षा प्रदान की, जिसके फलस्वरूप पू० बाबा बाह्याभिमान, देहाभिम और इन्द्रियाभिमान से परे मुक्त हो ऋतम्भरा प्रज्ञा के धनी परम पुरुष हो गये।

ब्रह्मनिष्ठ बाबा स्वयं भी शक्तिपात द्वारा वेध दीक्षा देने तथा अनुग्रह–निग्रह करने में समर्थ गुरु रहे। वे इस सर्वोत्कृष्ट शाम्भव योग साधना को—

"महाराजाधिराज योगोऽयं–योगानामुत्तमोत्तमः"
महाराजाधिराज–योग की संज्ञा से अभिहित करते थे।

पूज्य बाबा कहा करते थे, गीता में संकेत रूप में उल्लिखित जो अर्जुन को विराट स्वरूप का दर्शन हुआ उससे कई गुना अधिक, असंख्य कोटि ब्रह्माण्ड बुलबुलों की तरह प्रकट होते हुए अत्यन्त विचित्र विश्व रूप का दर्शन, काश्मीर के बारामूला क्षेत्र में शैलपुत्री स्थान पर संवत् १९८६ कार्तिक शुक्ला दशमी को उन्होंने स्वयं किया, जिसमें विचित्र ढंग की गतियों, शब्दों और अर्थों से युक्त सहस्त्रों लोक ऐसे थे जिनमें से कई एक के भीतर पू० बाबा ने स्वयं अपने वर्तमान जन्म के इस शरीर को भी देखा था।

वि० सं० १९८६ माघ शुक्ला दशमी को रात्रि के दूसरे प्रहर मार्तण्ड भवन (मटन) में बिजली, चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य से भी अधिक देदीप्यमान स्व-स्वरूप को देखा।

संवत् १९८७ चैत्र शुक्ल पंचमी को काश्मीर के कारकोट नाग स्थान पर पू० बाबा ने अपनी तपस्या और साधना के बल पर तैत्तरीय उपनिषद में उल्लिखित वेदान्तियों के द्वारा पूजित–प्रतिपादित अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द रूप पंच प्राणों का दर्शन कर आत्मसाक्षात्कार किया था।

इस प्रकार पू० बाबा ने अपने परमेश्वर स्वरूप की साक्षात अपरोक्षानुभूति की और अपनी अलौकिक आध्यात्मिक दृष्टि-शक्ति से विभिन्न रूपों में सत्य का साक्षात्कार किया और उसे संस्कृत भाषा के माध्यम से "श्री सिद्धमहारहस्यम्" आदि कृतियों में व्यक्त किया।

इसके अतिरिक्त संवत् १९८८ में भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी के दिन प्रदोष व्रत में भगवान मृत्युंजय शिवजी की कृपा से कुल्लू प्रदेश में व्यास नदी के तट पर सुल्तानपुरी में त्रिशूलधारी दिव्य महापुरुष ने प्रत्यक्ष होकर त्र्यम्बक मंत्र बाबा को प्रदान किया था। उन्होंने दुःखी लोगों के रोग निवारणार्थ सर्व श्रेष्ठ वैराग्य हेतु उस दिव्य संजीवनी विद्या का उद्धारक्रम अपनी "श्री संजीवनी दर्शनम्" नामक पुस्तक में उद्घाटित कर दिया। यह बाबा के करुणा पूर्ण अनुग्रह की पराकाष्ठा ही है।

पूज्यपाद श्री बाबा महाराज ने संस्कृत एवं हिन्दी में प्रचुर मात्रा में रचनाओं का प्रणायन किया, जिनमें से अधिकांश समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं। शेष में से प्रमुख, संस्कृत में श्लोकबद्ध बाबा की आत्मकथा के अतिरिक्त, राष्ट्रालोक का राष्ट्र-संजीवन भाष्य अभी तक अप्रकाशित है। यह एक अनूठी राष्ट्रीय महत्व की वृहद रचना है।

पू० बाबा के समूचे प्रकाशित साहित्य को धर्म, दर्शन, राष्ट्रनीति, वर्णनात्मक, काव्यात्मक तथा हिन्दी कहानियाँ आदि छह भागों में विभाजित किया जा सकता है।

यहाँ सभी ग्रंथों का परिचय देना तो स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है, किंतु उनमें से कतिपय प्रमुख पुष्पों का सौरभ सहृदय पाठकों तक पहुंचाने का प्रयत्न है।

श्री परमशिवस्तोत्र—एक स्तोत्र काव्य के अतिरिक्त शैव शास्त्र संबंधी सिद्धान्त ग्रंथ भी है जिसमें परम शिव को एक अखण्ड तथा असीम–अविचल एवं स्थिर–सत्य तत्व के परिपूर्ण चिद्रूप

की सृष्टि–स्थिति–संहार–निग्रह–अनुग्रह रूपी लीलामय शक्ति तत्वात्मक परमेश्वरता की व्याख्या क
उस स्वात्म परमेश्वर की स्तुति की गई है।

श्री महानुभव शक्तिस्तव—समाधि गत भगवती शक्ति के अनेक रूप रूपाय—चित्, निवृत्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार के उपरांत वर्णन किया है इस लघुकायस्तव में श्री चक्र के गूढ रहस्य को भी—

"महानुभव सस्तुतां महित विन्दुमध्यस्थितां
महार्थ मणिमेखलां मदन सूदनानन्दिनीम्।

शब्दों में उद्घाटित किया है।

श्री मन्दाक्रान्ता स्तोत्रम्—की रचना पू० बाबा ने तब प्रारंभ की जब उनको ऐसा आभ हुआ कि उन्हें अभी एक जन्म जिला हरदोई उ. प्र. के एक प्रतिष्ठित भार्गव वंश में और लेना है अतः इस स्तोत्र के माध्यम से प्रथम छंद में ही माँ भगवती से दूसरा जन्म न देने की प्रार्थना की है

इस स्तोत्र में श्री मद्बाला त्रिपुर सुन्दरी के बीज मंत्रों को उद्घाटित करते हुए उन महिमा का वर्णन किया है। इस स्तोत्र के रचना काल के अंतर्गत ७१वां छंद रचने के पश्चात् बाबा को अनायास ही आभास हुआ और वे आश्वस्त हो गये कि माँ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार ली है। तब उन्होंने इस स्तोत्र को अन्तिम रूप देकर संवत् १९८६ कातिक शु० दशमी को ७४ पूर्ण कर समाप्त कर दिया। और आश्चर्य कि सं० २०३६ में कातिक शु० दशमी को ही पू० ब को जल समाधि दी गई थी।

आत्मविलास—परम कल्याणकारी, सन्मार्गप्रदर्शक अद्भुत दार्शनिक प्रकृत ग्रंथ है जि आत्मा, परमात्मा, ईश्वर जगदुत्पत्ति, आदि दर्शन संबंधी गूढ़ रहस्यों का समाधान दिया गया ऐसा दूसरा मौलिक दार्शनिक ग्रंथ संभवतः अनेक शताब्दियों में नहीं लिखा गया।

श्री विंशतिकाशास्त्रम्—में केवल बीस कारिकाओं के माध्यम से प्रत्यभिज्ञा दर्शन को रूप में समझाने की चेष्टा की गई है। इसमें तीन टीकाऐ हैं—दो संस्कृत में, एक हिन्दी में।

श्री सिद्धमहारहस्यम्—म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में—यह पुस्तक य पृष्ठ संख्या में बहुत छोटी-सी प्रतीत होती है तथापि इसके भीतर बहुमूल्य रत्नों के जैसे रहस तत्व भरे पड़े हैं, इस कारण से मुझे बहुत ही गौरव युक्त प्रतीत हो रहा है"। इस पुस्तक में पू० द्वारा किये गये अनेकों दिव्य दर्शनों का उल्लेख है।

श्री मदमृतसूक्ति पंचाशिका—इस पुस्तक में पू० बाबा द्वारा जब तब लिखी गई प्रकाशित महत्वपूर्ण सूक्तियों का संकलित रूप है, जिसकी संस्कृत टीका पं० बलजिन्नाथ जी है और सम्पादन पूना निवासी श्री अरूण पारखे एम. ए. (संस्कृत) ने किया है।

राष्ट्रालोक—राष्ट्र-प्रेम का अनुपम–अद्वितीय ग्रंथ रत्न है।

हिन्दी रचनाऐं—बाबा ने हिन्दी में सुदृढ़ शरीर, विचित्र विधान, प्रमाद एवं मल्ल

जैसी प्रेरक-रोचक एवं धार्मिक कहानियों की रचना की जो पूर्व में "श्री स्वाध्याय" में प्रकाशित हुई हैं।

पू० बाबा ने अनेक स्थानों पर संस्कृत विद्या के प्रचार प्रसार एवं शोध संबंधी संस्थाओं की स्थापना की। सर्वप्रथम सोलन में "श्री पीठ—बघाट राज्य" की स्थापना की। इसके माध्यम से पू० श्री बाबा ने श्री ग्रंथमाला के प्रथम प्रसून के रूप में श्रीमद्धर्माचार्य भगवत्पाद प्रणीता "श्री पंचस्तवी" का पर्याप्त अन्वेषण के उपरांत सम्पादन कर वि० सं० १९९७ में प्रकाशन किया था।

"श्री पंचस्तवी"- श्री महात्रिपुर सुन्दरी का अत्यंत अदभुत व प्राचीनतम स्त्रोत्र रत्न है जिसके पाठ से यथेच्छफल की प्राप्ति होती है। पू० बाबा ने जगज्जननी जगदम्बा श्री महात्रिपुर सुन्दरी से संबंधित समूचे साहित्य और शैव दर्शन का काश्मीर के अंतरंग क्षेत्रों में स्वयं जाकर गहन अध्ययन किया था।

तदुपरांत वि० संवत् १९९८ आषाढ़ शु० दशमी शुक्रवार को अनन्त श्री सर्वतंत्र महामहिम आचार्य चरण श्री अमृतवाग्भव जी महाराज ने, प्रत्येक भारतीय को आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—तीनों प्रकार की उन्नति कराने के उद्देश्य से "श्री स्वाध्याय सदन" संस्था की सोलन (शिमला) में स्थापना की। संस्था के प्रधानाध्यक्ष भरतपुर निवासी श्री पं० गोविन्द जी मिश्र रहे।

उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सर्व प्रकार के लौकिक, पारमार्थिक बंधनों या पारतन्त्र्य से छुड़ा कर मुक्ति पद या स्वातन्त्र्य प्राप्त कराने का प्रयत्न करने हेतु संस्था की ओर से एक त्रैमासिक पत्र "श्री स्वाध्याय" प्रकाशन की स्थापना की गई जिसका प्रथमांक आश्विन शु० दशमी (विजयादशमी) वि०सं० १९९८ को प्रकाशित हुआ। इस पत्र का सम्पादन श्री पं० हरदेव शर्मा त्रिवेदी करते रहे। इस पत्र में भारतीय संस्कृति के मूलभूत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इतिहास इन पांचों स्तम्भों पर विद्वानों के सारगर्भित लेख प्रकाशित होते रहे। यह पत्र निरंतर सोलह वर्ष तक प्रकाशित होता रहा। परिस्थितिवशात् पत्र बंद हो गया। संस्था एवं पत्र का कार्यालय भरतपुर स्थानान्तरित हो गया जहां से पू० बाबा महाराज के अनेक ग्रंथों का प्रकाशन होता रहा।

"श्री स्वाध्याय सदन" संस्था के संस्थापक श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी ने वि० सं० २००६ पौष कृ० ८ रविवर दिनांक १३ दिसम्बर १९४९ को हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा की उत्तम कृति पर वाङ्मय सेवा की दृष्टि से सवासौ रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की और तदुपरांत बृज भाषा के भरतपुर निवासी प्रसिद्ध कवि श्री पं० चंपालाल कविशेखर की पुस्तक "मंजुल शतक" पर तथा श्री पं० नन्दकुमार की पुस्तक "श्री अन्त्याक्षरी कल्पद्रुम" पर उक्त पुरस्कार प्रदान किये। श्री बद्री प्रसाद गुप्ता व्यानिया की ज्योतिर्गणित से प्रभावित होकर "गणक—चूड़ामणि" की उपाधि प्रदान की थी। आचार्य श्री जी ने एक—विद्यार्थी की बुद्धिमत्ता और उसकी आर्थिक परिस्थिति को देख कर दो वर्ष तक पच्चीस रुपये प्रतिमास छात्रवृत्ति भी प्रदान की थी। वि० सं० २०१० कार्तिक शु० ८ को श्री पं० सम्पूर्णदत्त मिश्र की "ऋतूल्लास" नामक कृति पर "कवि पुण्डरीक" उपाधि प्रदान की।

पू० बाबा सरस्वती के वरद पुत्र, श्री विद्या के परमोपासक और विद्वानों, साहित्यकारों के

प्रशंसक, व प्रेमी थे। इसीलिये जब उन्होंने जयपुर के प्रख्यात संस्कृतज्ञ आशु कवि श्री पं० हरि शास्त्री द्वारा रचित संस्कृत काव्य ग्रंथ "श्री ललिता सहस्त्र काव्यं" जैसी ललित काव्य रचना को देखा तो अत्यंत प्रसन्न हुए। श्री ललिता सहस्त्र नाम परिपूर्ण महाशाकस्वरूपिणी पर शिवा-पराम्बा श्री राज राजेश्वरी महात्रिपुर सुन्दरी ललिता भगवती के करोड़ों नामों में सर्वश्रेष्ठ एक दिव्य सहस्त्रनाम का है। उसी सहस्त्रनाम के एक-एक नाम पर एक-एक पद्य की सुललित रचना से प्रभावित होकर पू० बाबा ने उक्त पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभार सहन कर पूर्ण आर्थिक साहाय्य प्रदान किया।

इस प्रकार के न जाने कितने ही उपकार और कल्याण के कार्य पूज्यपाद श्री बाबा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से करते रहे। वे गरीबों के मसीहा थे, परदुःखभंजक थे। दूसरों के दुःख और संत्रस्त रोगियों की पीड़ा को देखकर शीघ्र ही द्रवित हो जाते थे। इसीलिये उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप भरततुर में "श्री अमृत होम्योपैथिक चिकित्सालय" की स्थापना भी की गई।

पू० बाबा ने वि० सं० २०२६ में श्री पीठ शोध संस्थान की स्थापना श्री पं० वलजिन्नाथ जी के संयोजकत्व में शिमला में की थी। कुछ समय पश्चात् वह जम्मू स्थानान्तरित हो गया। यह संस्थान अब जम्मू में सैद्धदर्शन पर शोध कार्य में रत है और इसने पू० बाबा के कई ग्रंथों का सम्पादन-प्रकाशन भी किया है।

"श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान" की स्थापना भी पू० बाबा के प्रोत्साहन एवं शुभाशीर्वाद से ही श्री पं० गोविन्द जी मिश्र की प्रधान-अध्यक्षता में दिनांक २१ अक्टू० १६७६ को राजस्थान में सांस्कृतिक-साहित्यिक जन-चेतना के लिये प्रख्यात जयपुर नगर में गठन करने का निर्णय लिया गया, जिसका विधिवत् पंजीकरण भी दि० १०-२-१६८० को करा लिया गया। पू० बाबा महाराज की लिखित वसीयत के अनुसार उनके ब्रह्मभावस्थ होने के उपरांत सुयोग्य एवं जरूरतमंद छात्रों को ५०१) रु० प्रतिवर्ष प्रति विद्यार्थी संस्कृत के तीन विद्यार्थियों को "आचार्य श्री अमृतवाग्भव संस्कृत छात्र वृत्ति" दी जा रही है।

इसके अतिरिक्त संविधानगत उद्देश्यों एवं पू० बाबा के निर्देशों की सम्पूर्ति हेतु संस्थान द्वारा प्रतिवर्ष संस्कृत लेख, भाषण एवं काव्य-अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताएँ एवं प्रतिभाओं को पुरस्कृत कर सम्मानित किया जाता रहा है।

इस संस्थान ने पूज्यपाद श्री आचार्यश्री जी की प्रथम पुण्यतिथि के अवसर पर सन् १६८३ में वीतराग ब्रह्मनिष्ठ श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य जी की जीवनी "पू० बाबा महाराज" प्रकाशित की थी; द्वितीय पुण्यतिथि के अवसर पर द्वितीय स्मृति पुष्पांजलि के रूप में "आचार्य श्री अमृतवाग्भव दर्शन" पुस्तक का प्रकाशन किया। इस पुस्तक के एक भाग में देश की स्वाधीनता से पूर्व ही प्रकाशित होने वाली पत्रिका "श्री स्वाध्याय" में पू० बाबा के कतिपय प्रकाशित लेखों का संकलन है और दूसरे भाग में पू० बाबा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित अन्य विद्वानों के लेख हैं।

और अब यह तृतीय स्मृति-पुष्पांजलि स्वरूप "श्रीमदअमृतवाग्भवाचार्य-स्मृति ग्रंथ" प्रस्तुत है।

शोध संस्थान द्वारा प्रथम पुण्यतिथि महोत्सव के उपलक्ष्य में दि० १२ नवम्बर १९८३ को श्री सनातनधर्म उ० मा० विद्यालय भरतपुर में संस्कृत निबंध, अन्त्याक्षरी एवं भाषण प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया तथा दि० १३ नवम्बर को सायंकाल संस्थान द्वारा श्री हिन्दी साहित्य समिति में छात्रवृत्ति एवं प्रतियोगिता पुरस्कार वितरण तथा विद्वदसम्मान समारोह राजस्थान के प्रसिद्ध आयुर्वेद चिकित्सक डॉ० दौलतराम चतुर्वेदी की अध्यक्षता में आयोजित किया गया। उक्त अवसर पर मुख्य अतिथि वाराणसी के संस्कृतनिष्ठ विद्वान दण्डी स्वामी श्री सुखदेवाश्रम जी महाराज उपस्थित थे। तीन विद्यार्थियों को संस्कृत-छात्रवृत्ति, ग्यारह प्रतियोगियों को आर्थिक पुरस्कार तथा श्री पं० रामजीलाल जी वेदपाठी को विद्वदसम्मान स्वरूप एक ऊनी शाल तथा दो सौ एक रुपया की राशि भेंट कर सम्मानित किया गया।

द्वितीय पुण्यस्मृति के अवसर पर दि० ९ एवं १० नवम्बर १९८४ को श्री दादू आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, मोती डूंगरी, जयपुर में माध्यमिक स्तर एवं स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर संस्कृत निबंध, भाषण एवं अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया और तदुपरांत दि० १२ नवम्बर १९८४ को "आचार्य श्री अमृतवाग्भव संस्कृत छात्रवृत्ति" एवं प्रतियोगिता पुरस्कार समारोह का आयोजन कविवर श्री रामनाथ कमलाकर, अध्यक्ष, अनुग्रह अकादमी की अध्यक्षता में आयोजित किया गया जिसमें राजस्थान विश्वविद्यालय के डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। उक्त समारोह में दो विद्यार्थियों को "आचार्य श्री अमृतवाग्भव संस्कृत छात्रवृत्ति" दी गई तथा लगभग २७ प्रतियोगियों को पुरस्कार प्रदान किये गये।

संस्थान द्वारा सन् १९८३ में भरतपुर के तीन विद्यार्थियों को "आचार्य श्री अमृतवाग्भव संस्कृत छात्र वृत्ति" प्रदान की गई थी। उनमें से एक श्री राकेश कुमार मिश्र ने राजस्थान विश्वविद्यालय के एम. ए. उत्तरार्द्ध में पू० बाबा की कृति श्री मदमृत-सूक्ति-पंचाशिका" का हिन्दी भाषानुवाद एवं व्याख्या, लघुशोध-प्रबन्ध गत वर्ष राज० विश्वविद्यालय को प्रस्तुत की।

भरतपुर की दूसरी छात्रा कु० उर्मिला गुलाठी को राजस्थान विश्वविद्यालय ने "श्री अमृतवाग्भवाचार्य की संस्कृत रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन" विषय पर पी. एच. डी. की डिग्री प्राप्त करने हेतु शोध की स्वीकृति प्रदान की है।

फलस्वरूप जयपुर संस्थान द्वारा कु० उर्मिला गुलाठी को पू० बाबा रचित समस्त उपलब्ध साहित्य की प्रतियाँ बिना किसी मूल्य के उपलब्ध कराकर अन्य वांछित सहयोग प्रदान कर प्रोत्साहित किया जा रहा है।

जयपुर के अतिरिक्त भी पूज्यपाद श्री बाबा ने सुहाना (हरियाणा) में भी इस प्रकार की व्यवस्था की हुई है कि वहाँ भी उनके निर्देशानुसार ही वहाँ के भक्तों के द्वारा कतिपय गरीब ब्राह्मण बालकों को संस्कृत छात्रवृत्ति अनेक वर्षों से दी जा रही है।

यह बाबा महाराज के संस्कृत प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है। साथ ही उनकी निस्पृह आडम्बरहीनता और निरभिमानता का भी सूचक है।

पू० पा० आचार्य श्री अमृतवाग्भव भारतीय साहित्यकार संघ की कार्यकारिणी के भी दिल्ली में वि० सं० २०२७ पौष में अध्यक्ष निर्वाचित किये गये थे। उक्त संघ द्वारा त्रैमासिक पत्रिका "श्रेय" का प्रकाशन भी होता रहा।

पू० बाबा के निर्देशानुसार ही दि० ३०-६-१९८२ को दिल्ली में पं० देशराजजी की अध्यक्षता में विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान की स्थापना की गई। इस संस्थान के द्वारा भी पू० बाबा की पुण्यतिथि के अवसर पर समारोहादि का आयोजन दिल्ली में होता रहता है।

भगवान परशुराम को श्री विद्या का संवाहक-उपासक और प्रचारक मानते हुए पूज्यपाद बाबा महाराज ने भारत की तत्कालीन परतंत्रता की स्थिति में विदेशी एवं स्वदेशी आततायी शासकों के अन्याय-अत्याचारों से संत्रस्त, भयभीत और आतंकित जन-साधारण की रक्षार्थ श्री परशुराम स्तोत्र की वि० सं० १९८९ में रचना कर, छपवा कर साधकों में वितरित कराकर जन-सामान्य में साहस, उत्साह एवं निर्भीकता का संचार कर दुष्ट शासन को समाप्त करने हेतु उक्त स्तोत्र के पाठ एवं अनुष्ठानादि की प्रक्रिया का प्रचार प्रसार प्रारंभ किया। उक्त स्तोत्र के पाठानुष्ठान से अनेक भक्त आज भी विविध प्रकार के लाभ उठा रहे हैं।

पू० बाबा की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप काश्मीर में सर्वप्रथम संवत् १९८७ में श्री परशुराम जयन्ती का उत्सव मनाया गया। तदनंतर पंजाब में। किंतु मुख्य प्रेरणा स्रोत पू० बाबा का किसी को पता तक न हो पाता था। वि० सं० १९८९में मार्तण्ड भवन (मटन) काश्मीर में यह उत्सव अनेकानेक बंधनों को तोड़ कर विशाल स्तर पर मनाया गया और वहीं भक्तजनों की प्रार्थना पर श्री परशुराम स्तोत्र की रचना की। उसके पश्चात् तो अमृतसर, मुलतान, रावलपिण्डी, पूना, श्यालकोट, सोलन, जम्मू, सीतापुर, दिल्ली, भरतपुर, बंबई आदि भारत के अनेक प्रमुख नगरों में श्री परशुराम जयन्ती के उत्सवादि समारोहों का भव्य आयोजन किया जाना प्रारंभ हुआ तथा अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं में भी एतद विषयक चर्चा का समारंभ हुआ।

पू० बाबा ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समय अनेक, क्रांतिकारी एवं स्वाधीनता सेनानियों को मार्गदर्शन के अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश आदि स्थानों पर सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान किया था।

"श्री स्वाध्याय" पत्र के प्रकाशन के पीछे भी मुख्य भावना यही थी। उसके माध्यम से लौकिक एवं पारलौकिक बंधनों या पारतंत्र्य से छुड़ा कर मुक्तिपद या स्वातंत्र्य प्राप्त कराने का प्रयत्न किया जाय। उक्त पत्र में अपने धार्मिक लेखों के माध्यम से भी वे भारतीय परतंत्रता की लौह जंजीरों को तोड़ने हेतु स्वातंत्र्य प्राप्ति की अदम्य आकांक्षा जगाने हेतु शंखनाद करते रहे।

पू० बाबा ने उन दिनों अपने "शक्तिपूजा" नामक लेख में स्पष्ट शब्दों में कहा—"परतंत्र को पुण्य की प्राप्ति कहां ? पुण्यवान ही सुखी होने का अधिकारी है।....सुख प्राप्ति स्वातंत्र्य के बिना कभी नहीं हो सकती।

पू० बाबा जम्मू, काश्मीर, हिमाचल प्रदेश आदि अनेक स्थानों पर श्री दुर्गासप्तशती की

आध्यात्मिक व्याख्या के साथ-साथ राष्ट्रपरक व्याख्या करते हुए कथाओं के माध्यम से भारतीय जन-जीवन में चेतना जाग्रत करते रहे।

पू० बाबा ने अपने अद्भुत दार्शनिक ग्रंथ "आत्मविलास" में भी लिखा—

सुखाप्तिवांछा हृदये वर्तते यदि यत्यताम
पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त्यै सैव पूर्ण सुखप्रदा।

(सुख प्राप्त करने की इच्छा यदि हृदय में है तो पूर्ण स्वतंत्रता ही पूर्ण सुख दे सकती है।)

उन्होंने स्वातंत्र्य प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय श्री राष्ट्रालोक में बताते हुए संक्रान्ति का शँख फूंक दिया—

स्वातंत्र्य भिक्षया नैव कदाचिदपि लभ्यते
योग क्षेम समता राष्ट्र शक्तिः प्रभाविनी।

(भीख मांग कर किसी काल में भी स्वातंत्र्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रभाविनी राष्ट्र-शक्ति ही योग तथा क्षेम में सर्वोपरि सामर्थ्य रखती है।)

इस प्रकार पू० बाबा ने परतंत्रता के युग में अपने धार्मिक लेखों के माध्यम से भी अपनी निर्भीक और गुरु गंभीर वाणी में भारतीय स्वतंत्रता के लिये अप्रत्यक्ष रूप से भौतिक एवं आध्यात्मिक ढंग से सतत प्रयत्न करते रहे—उनकी ऐसी अनुपम राष्ट्रनिष्ठा और देशभक्ति वंदनीय है, अभिनंदनीय है।

ए–72 अमृत पथ
जनता कालोनी–जयपुर

॥ श्रीः ॥

महामहिम आचार्य श्री मद्अमृतवाग्भव प्रणीत ग्रन्थः

1. श्री महानुभव शक्ति स्तवः (संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित)
2. श्री परशुराम स्तोत्रम् (हिन्दी अनुवाद)
3. श्री विंशतिकाशास्त्रम् (संस्कृत हिन्दी व्याख्या)
4. श्री सप्तपदी हृदयम् (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद)
5. श्री संजीवनी दर्शनम् (संस्कृत हिन्दी अनुवाद)
6. श्री सङ्क्रान्ति पंचदशी (हिन्दी अनुवाद सहित)
7. श्री मन्दाक्रान्ता स्तोत्रम् (हिन्दी व्याख्या)
8. श्री आत्मविलास (हिन्दी व्याख्या)
9. श्री सिद्धमहारहस्यम् तथा दैशिक दर्शनम (हिन्दी टीका)
10. श्री राष्ट्रालोक हिन्दी अनुवाद)
11. श्रीमद् अमृत स्तोत्र संग्रह (हिन्दी अनुवाद)
12. श्री परशिव स्तोत्रम् तथा वस्तु स्थिति-प्रकाश (हिन्दी व्याख्या)
13. श्री सिद्धमहारहस्यम् (मूल)
14. श्री मदमृतसूक्ति पञ्चाशिका (संस्कृत व्याख्या)

अन्य प्रकाशन

15. श्री गुरुवर स्तव (हिन्दी अनुवाद)
16. परम पूज्य श्री बाबा महाराज (संक्षिप्त जीवनी)
17. आचार्य श्री अमृतवाग्भव -दर्शन
18. श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य–स्मृति ग्रन्थ